देश-विदेश

अनियतकालीन बुलेटिन

अंक-2, जून 2006

सहयोग राशि : बारह रुपये

सम्पादक
उमा रमण
सम्पर्क सूत्र: पो. बॉ. नं. 29,
रुड़की-247667
ई-मेल:
deshvidesh@rediffmail.com

उमा रमण द्वारा पवन ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली, से मुद्रित कराकर चन्द्र कुमार (द्वारा-श्री सतीश वर्मा) न्यू मोहनपुरा, पो. मिलापनगर, दिल्ली रोड, रुड़की, से प्रकाशित किया गया।

इस अंक में

सम्पादकीय-नेपाल की लोकतान्त्रिक क्रान्ति-जिन्दाबाद! 1

नाभिकीय अप्रसार, ईरान और अमरीका आरक्षण के समर्थन और विरोध में फँसा भारतीय 4

समाज: असलियत क्या है? 9

समाचार-विचार

- गंगोलीहाट बलात्कार काण्ड: असली अपराधी कौन? 10
- गुजरात में फिर दंगे 11
- फ्रांस में श्रम कानूनों में बदलाव के खिलाफ व्यापक जनप्रतिरोध 12
- इंजीनियर सूर्यनारायण की मौत के लिए जिम्मेदार कौन? 13
- भारतीय अर्थव्यवस्था में अमरीकी थैलीशाहों का सीधा हस्तक्षेप 15
- मजदूर वर्ग पर हमला जारी 17
- फिलिस्तीन में हमास की जीत 17
- उग्र परिवर्तनों से गुजरता वेनेजुएला 19
- भारत के दूधिया वर्गीज कूरियन और डेयरी-क्षेत्र से इनकी विदाई 21
- भारत पर कसता अमरीकी शिकंजा 23
- दो कौड़ी की पत्रकारिता 23
- मध्य प्रदेश में एशियाई विकास बैंक की कारगुजारियाँ 24
- अमरीकी दबाव में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार 25

जाहिरा शेख के बचाव में 26

पानी, पूँजी, मुनाफा और साम्राज्यवाद: भारतीय शासकों की जनविरोधी नीतियाँ 32

रोटी से खेलने वालों की कारस्तानियाँ 38

भारत की विदेश-नीति अमरीका की वैश्विक रणनीति का अंग बनने की ओर अग्रसर 41

भारत की महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा को अमरीका क्यों शह देता है? 49

सम्पादकीय

नेपाल की लोकतान्त्रिक क्रान्ति–जिन्दाबाद!

लम्बी रातों वाला सर्दियों का मौसम समाप्त हुआ और बसन्त ने नेपाल में दस्तक दी। इसके साथ ही एक दशक से चली आ रही लड़ाई जन-सैलाब बन गयी। वह नारायणहिती पैलेस को बहा ले जाने वाली थी कि तभी भारत-अमरीका के शासकों ने हस्तक्षेप किया और राजा को दो कदम पीछे हटना पड़ा। उसने अपनी दो दिनों पहले की गयी घोषणा– ''प्रधानमन्त्री कौन बनेगा?'' को रद्द कर दिया और संसद को बहाल करने के लिए बाध्य हुआ। यह जनता की जीत थी, और हार भी। जीत तो इसलिए कि राजा को पीछे हटना पड़ा और संसद को बहाल करना पड़ा। हार इसलिए कि नारायणहिती पैलेस इस जन-सैलाब में बहा नहीं, बचा रह गया।

विगत दस वर्षों से नेपाल में एक सच्चे लोकतन्त्र के लिए वहाँ की जनता माओवादी क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में संघर्षरत है। दस साल पहले सच्चे लोकतन्त्र के जो बीज ड़ाले गये थे, कालान्तर में उनके अंकुर फूटे, बिरवा बना और कोंपलें निकलीं। अब वह एक छोटा-सा छायादार वृक्ष बन चुका है, जो फल देगा। फल देगा या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ के माओवादी क्रान्तिकारी कितनी सूझ-बूझ का परिचय देते हैं।

सच्चे लोकतन्त्र के लिए नेपाल की जनता का लम्बे समय से चला आ रहा यह संघर्ष देशी व विदेशी प्रतिक्रियावादियों की साजिशों का शिकार होता रहा है और जनता को उसके संघर्षों का सुफल अभी तक नहीं मिल सका है। लेकिन उनका संघर्ष अभी व्यर्थ नहीं हुआ है। इन्हीं अन्तहीन संघर्षो की लाली पूरब में सूर्योदय के पूर्व क्षितिज पर छायी हुई दिखायी दे रही है।

नेपाल के लोकतन्त्र के संघर्ष के इतिहास में यह पहली बार हुआ है कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए बूढ़ा-बच्चा-जवान-स्त्रियाँ सभी उठ खड़े हुए हैं। इस बात के भी स्पष्ट संकेत हैं कि यहाँ-वहाँ शाही सेना के सैनिकों की पत्नियाँ भी सड़कों पर उतरने लगी हैं। कहते हैं कि फौजी किसान का बेटा होता है जिसका सिर्फ लिबास फौजी का होता है। अगर विदेशी हस्तक्षेप नहीं हुआ होता और राजा पीछे नहीं हटा होता तो वह दिन दूर नहीं था जब सेना के भीतर दरार पड़ जाती और वे क्रान्तिकारियों से एक-एक करके आ मिलते। सभी क्रान्तियों में ऐसा हुआ है। ईरान की राजनीतिक क्रान्ति इसका हाल का उदाहरण है।

नेपाल के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है कि लोकतन्त्र के संघर्ष की बागडोर क्रान्तिकारियों के हाथों में है। इस लड़ाई का संचालन करने के लिए और उसको मंजिल तक पहुँचाने के लिए जनता की अपनी सेना भी है और हजारों-हजार की संख्या में नेपाली युवक-युवतियाँ मन में भविष्य के सपने और आँखों में कल का ख्वाब लेकर संघर्ष में कूद पड़े हैं।

दस साल पहले जब यह संघर्ष शुरू हुआ था तो बहुत कम लोगों को अनुमान था कि इतने कम समय में एक समानान्तर सत्ता का उदय हो जायेगा, जो जनता की सत्ता होगी, लोकसत्ता होगी, लोकतन्त्र को लाने वाली सत्ता होगी, उसकी हिफाजत करने वाली सत्ता होगी।

इस संघर्ष का केन्द्रीय मुद्दा है–एक सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना। यह सच्चा लोकतन्त्र है क्या? क्या पुरानी संसद को फिर से बहाल कर देने मात्र से लोकतन्त्र स्थापित हो गया? क्या संविधान सभा के चुनाव की घोषणा या संविधान सभा के निर्माण से लोकतन्त्र की स्थापना हो जायेगी? क्या सात पार्टियों के नेतागण शाही सेना के बल पर सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना कर सकेंगे? दरअसल, केन्द्रीय मुद्दा संविधान सभा की स्थापना नहीं है। संविधान सभा तो सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना का उपकरण मात्र बन सकती है। लेकिन उसकी स्थापना-मात्र से ही लोकतन्त्र कायम नहीं हो जायेगा। सच्चे लोकतन्त्र का केन्द्रीय कार्यभार है–क्रान्तिकारी भूमिसुधार। एक ऐसा भूमिसुधार कार्यक्रम जो सब कुछ उलट-पुलट कर देगा, ऊपर को नीचे और नीचे को ऊपर कर देगा, जो हलवाहे को हल-बैल और जमीन का मालिक बना देगा, जो तमाम परोपजीवियों और सामन्तशाही को उसके साथ जुटे हुए तमाम तरह के तामझाम और संस्थाओं के साथ उखाड़ फेंकेगा और एक नये समाज के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। इससे जो ऊर्जा विकिरित होगी वह परोपजीवियों को हमेशा-हमेशा के लिए सत्ताच्युत करके परोपजीवी मानसिकता और उसकी समूची संस्कृति को जलाकर खाक कर देगी। इससे जो प्रकाश और आलोक उठेगा, जो रोशनी फैलगी वह दूर-दूर तक मेहनतकशों की शिराओं ओर धमनियों में प्रवाहित हो रहे खून को ऊष्मा देगी और उन्हें सम्पूर्ण मानव-गरिमा के साथ समाज में प्रतिष्ठित करेगी।

यह काम सच्चे अर्थों में तभी सम्पन्न होगा जब यह संघर्ष नेपाल के सुदूरवर्ती गाँवों तक में, हरेक गाँव में लड़ा जायेगा। फ्रांस की क्रान्ति से लेकर रूस, चीन, क्यूबा और दुनिया-भर की सभी जनक्रान्तियों का यही अनुभव है। इस कठिन काम को अंजाम देने के लिए न केवल एक जनसेना की बल्कि मेहनतकशों के बीच से आये हुए लाखों कार्यकर्ताओं की भी जरूरत होगी। अगर संविधान सभा अपने प्रारम्भिक दिनों में ही इसके लिए कानून परित करती है और इसके द्वारा निर्मित कार्यकारिणी समितियाँ उन कानूनों को पूरी तरह से लागू करती हैं, केवल तभी एक सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो सकती

है, जहाँ से और बेहतर लोकतन्त्र की तरफ यात्रा शुरू हो सकेगी।

यही वह सच्चा लोकतन्त्र है जिसके लिए नेपाल के माओवादी क्रान्तिकारी, वहाँ के नौजवान, नवयुवतियाँ, बच्चे-बूढ़े और स्त्री-पुरुष सभी पिछले 10 सालों से कुर्बानी देते आ रहे हैं। यही है नेपाली नौजवानों की आँखों में बसा हुआ वह ख्वाब जिससे दुनिया के सारे प्रतिक्रियावादी—नेपाल के भीतर और उसके बाहर के—डरते हैं। यही वह कारण है जिसके चलते राजा को पीछे हटना पड़ा ओर राजनीतिक पार्टियों के नेतागण और उनके सांसद सिंहदरबार में जा बैठे हैं।

अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में सम्राज्यवादी समूह और भारत की छटपटाहट के पीछे भी यही कारण प्रमुख है। इसी के चलते अमरीका ने परोक्ष सूत्रधार के रूप में और भारत की सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से नेपाल में हस्तक्षेप किया। उनको राजा से कोई डर नहीं, माओवादी क्रान्तिकारियों से डर है। सात पार्टियों के नेताओं को सत्तासीन करके वे नेपाल में सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक यथास्थिति को बनाये रखने के लिए प्रयासरत हैं। वे इस बात को अच्छी तरह से जान चुके हैं कि नेपाल का बेवकूफ राजा अपनी जिद्द और प्रतिक्रियावादी रवैये से क्रान्ति को बुलावा दे रहा था। वह एक बड़ा पत्थर उठाकर खुद ही अपने ऊपर पटकने वाला था, कि यह हस्तक्षेप किया गया।

गिरिजा प्रसाद कोइराला का मन्त्रिमण्डल क्रान्ति के सैलाब के दबाव में है। इस लम्बे संघर्ष में जितने लोगों पर फर्जी मुकदमे चलाये गये हैं, उन पर से मुकदमे हटाने का फैसला किया गया है। नयी सरकार उन्हें आतंकवादी नहीं कहेगी, अब से वे क्रान्तिकारी कहे जायेंगे, जैसे कि इनके कहने से ही कोई आतंकवादी यह क्रान्तिकारी हो जाता है। प्रतिक्रियावादियों की जीभ बड़ी लम्बी होती है, वे तोहमतें लगाते हैं, थूकते हैं, और चाटते हैं।

वास्तव में, कोइराला की सरकार अपने-आप में कुछ भी नहीं है। राजा उनकों गम्भीरता से नहीं लेता। जनक्रान्ति के सैलाब की ऊँची लहरों ने उन्हें उठाकर सिंहदरबार में फेंक दिया है। वहाँ वे लड़कर नहीं गये हैं। पैदल चलकर भी नहीं गये हैं। इसलिए तत्काल इसके अलावा वे कुछ कर भी नहीं सकते। उन्हें यह सब कुछ करना ही पड़ता। अगर वे क्रान्ति का समर्थन नहीं करते तो नेपाल की जनता उन्हें काठमाण्डु की सड़कों पर दौड़ा-दौड़ा कर पीटती। इन्हीं लोगों ने माओवादी क्रान्तिकारियों को आतंकवादी कहा था। जब माओवादियों के नेतृत्व में जनसेना द्वारा और क्रान्तिकारी जनता द्वारा वे वहाँ पहुँचा दिये गये तो उन्हें क्रान्तिकारी नहीं तो और क्या कहते?

लेकिन वे इतने भोले ओर सीधे-साधे नहीं हैं जितने कि दिखायी दे रहे हैं। उनका असली रंग आने वाले तीन महीनों में दिखायी देगा। वे भारत-अमरीका समेत दुनिया के तमाम प्रतिक्रियावादियों के साथ मिलकर जनसंघर्ष की आग को बुझाने का काम करेंगे। भारत की सरकार ने तो उनके लिए अपनी तिजोरी भी खोल दी है। छोटी-छोटी माँगों के लिए लड़ने वाले हमारे देश के मजदूर-किसानों पर गोलियाँ बरसाने वाली सरकार ने आखिर उनके लिए क्यों अपनी तिजोरी खोल दी? यह जनसंघर्षो की आग को बुझाने के लिए नेपाली जनक्रान्ति के साथ किया गया षड्यन्त्र है। वे चाहते हैं कि जनक्रान्तियों का तूफान थम जाय, ठण्डा पड़ जाय तो फिर साम, दाम, दण्ड, भेद, छल-प्रपंच, धोखा-धड़ी और षड्यन्त्र का सहारा लेकर क्रान्ति को कुचल दिया जाय और उसका नामोनिशान तक मिटा दिया जाय। प्रधानमन्त्री कोइराला और उपप्रधानमन्त्री खड्ग प्रसाद ओली बहुत अच्छी तरह से इस बात को जानते हैं कि उन्हें क्या करना है और उनका हित क्या है। सारत: उनकी जयादा निकटता राजा और राजमहल के साथ है, माओवादी क्रान्तिकारियों से नहीं। आज माओवादी क्रान्तिकारियों की जनसेना और क्रान्तिकारी जनता भी इन बातों से अनभिज्ञ नहीं है। इसलिए यह मात्र एक बड़ी लड़ाई के पहले की खामोशी-भर है। वहाँ का संघर्ष एक नये चरण में प्रवेश करने वाला है। ऐसा नहीं कि क्रान्तिकारियों का इन सात पार्टियों के साथ मोर्चा बनाना गलत था। यह बिल्कुल सही था और इसी के चलते नेपाली जनता का संघर्ष छलाँग लगाकर एक ऊपरी मंजिल पर पहुँच गया है। लेकिन लड़ाई का मुश्किल दौर तो अब शुरू हो रहा है। इस लड़ाई को निर्णायक मोड़ तक ले जाने के लिए यह जरूरी है कि क्रान्तिकारी शक्तियाँ विगत 400 वर्षों के इतिहास और अनुभवों को आत्मसात करें। यह इस बात पर निर्भर है कि निकरागुआ के ओर्तेगा की भूलों का उनके पास क्या सारसंकलन है? अभी नेपाली क्रान्ति को काफी कठिन और दुर्गम मार्ग तय करना है।

ओ पंछी! ओ पंछी! अभी आँखें बन्द करने का समय नहीं है, अभी अपनी पाँखें बन्द करने का समय नहीं है। अभी किनारा दूर है—उड़ते जाओ! उड़ते जाओ!

छपते-छपते:.....

नेपाल : घटनाक्रम

6 अप्रैल 1990 : लोकतन्त्र के लिए पहला बड़ा जनान्दोलन शुरू हुआ जिसका परिणाम ''लोकतान्त्रिक'' राजशाही के रूप में सामने आया। सेना और प्रशासन सामन्ती कुलीनों के ही हाथ में रहा।

1996 : रोल्पा जिले से लोकयुद्ध की शुरुआत राजशाही पुलिस द्वारा बर्बर दमन, राजा बीरेन्द्र ने शाही नेपाली सेना को अलग रखा और क्रान्तिकारियों से वार्ताएँ आरम्भ की।

अक्टूबर 2000 : क्रान्तिकारियों ने डोल्पा जिले के दुनाई में स्थित एक बड़ी पुलिस पोस्ट का सफाया किया, दर्जनों राजनीतिक कैदियों को जेल से छुड़ाया।

जून 2001 : 1 जून को राजा बीरेन्द्र की परिवार सहित हत्या, 4 जनू को ज्ञानेन्द्र राजा बना।

सितम्बर 2001 : क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चे के प्रतिनिधियों का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन, जिसमें एकीकृत क्रान्तिकारी जन परिषद का गठन किया गया।

26 नवम्बर 2001: राजा ने इमरजेंसी जैसी स्थिति घोषित की।

22 मई 2002 : संसद भंग कर दी गयी।

जनवरी-अगस्त 2003 : माओवादियों द्वारा 7 महीने के युद्ध-विराम की घोषणा, वार्ताओं का दौर।

मई 2003 : अमरीका ने क्रान्तिकारियों को आतंकवादी माना।

4 जून 2003 : राजा ने राजतन्त्रवादी सूर्यबहादुर थापा को प्रधानमन्त्री बनाया।

अगस्त 2003 : दोराम्बा में शाही सेना द्वारा 20 निहत्थे क्रान्तिकारियों की हत्या के बाद युद्ध-विराम समाप्त।

28 अगस्त 2003: नेपाली सरकार ने माओवादी क्रान्तिकारियों को आतंकवादी घोषित किया।

नवम्बर 2003 : अमरीका ने माओवादी क्रान्तिकारियों की कार्रवाइयों को आतंकवाद और अमरीकी सुरक्षा, विदेश-नीति व अर्थव्यवस्था के लिए खतरा बताया।

7 मई 2004 : आन्दोलन के दबाव में सूर्यबहादुर थापा का इस्तीफा।

अगस्त 2004 : जेल में बन्द माओवादी गुरिल्लाओं की रिहाई की माँग को लेकर काठमाण्डु की एक हफ्ते की घेरेबन्दी।

1 फरवरी 2005 : राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा सत्ता का अपहरण, लोकतन्त्र समर्थक नेता गिरफ्तार, इमरजेंसी घोषित।

22 नवम्बर 2005: सात पार्टी गठबन्धन और माओवादियों के बीच 12 सूत्री समझौता।

मार्च 2006 : सात पार्टी गठबन्धन और माओवादी क्रान्तिकारियों के बीच वार्ता, 12 सूत्री समझौते का पुन: अनुमोदन लेकिन 7+1 कम्यूनिके जारी नहीं हो सका।

4 अप्रैल 2006 : 4 दिनों की आम हड़ताल की घोषणा।

6 अप्रैल 2006 लोकतन्त्र बहाली के लिए राष्ट्रव्यापी जनान्दोलन की शुरुआत।

10 अप्रैल 2006 : अनिश्चितकालीन आम हड़ताल की घोषणा।

14 अप्रैल 2006 : राजा ने विपक्षी दलों से वार्ताएँ शुरू करने की पेशकश की।

19 अप्रैल 2006 : भारत सरकार के विशेष दूत कर्णसिंह प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह का विशेष सन्देश लेकर राजा से मिले।

20 अप्रैल 2006 : काठमाण्डु की जन घेरेबन्दी की शुरुआत। देखते ही गोली मारने के आदेश के बावजूद एक लाख से ज्यादा लोगों ने कर्फ्यू तोड़ा।

21 अप्रैल 2006 : राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा सात पार्टी गठबन्धन से प्रधानमन्त्री चुनने का आग्रह।

22 अप्रैल 2006 : भारत के विदेश मन्त्रालय ने घोषणा का स्वागत किया। 3,000 से ज्यादा आन्दोलनकारी गिरफ्तार, हजारों घायल।

24 अप्रैल 2006 : राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा संसद बहाल करने की घोषणा।

25 अप्रैल 2006 : 7 पार्टियों ने विजय जुलूस निकाला, माओवादियों द्वारा संशय का इजहार।

26 अप्रैल 2006 : माओवादियों ने काठमाण्डु और अन्य शहरों की नाकेबन्दी खत्म करने की घोषणा की।

27 अप्रैल 2006 : माओवादियों ने तीन माह का युद्ध-विराम घोषित किया।

28 अप्रैल 2006 : संसद का अधिवेशन आरम्भ।

30 अप्रैल 2006 : कोइराला द्वारा राजा से शपथ ग्रहण, संविधान सभा का प्रस्ताव पारित।

नाभिकीय अप्रसार, ईरान और अमरीका

–अरविन्द

2 मई को ईरान के यूरेनियम संवर्धन और नाभिकीय प्रसार के मसले को लेकर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के 5 स्थायी सदस्य देशों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई। उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के सातवें अध्याय के तहत एक प्रस्ताव लाया गया जिसमें ईरान के खिलाफ प्रतिबन्ध लगाने और सैनिक ताकत इस्तेमाल करने का भी प्रावधान है। अमरीका के एवज में फ्रांस और ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव पेश किया। इराक पर हमले के मामले में फ्रांस और जर्मनी को काफी जलील किया गया था। उन्हें ''बूढ़ा यूरोप'' कहकर अपमानित किया गया था। उससे ''सीख'' लेकर फ्रांस अपनी गलती सुधारते हुए ईरान के खिलाफ प्रस्ताव रखने में आगे है। आज द-गॉल की आत्मा रो रही होगी।

रूस और चीन ने इस प्रस्ताव का विरोध किया है। उनका कहना है कि यह एक ऐसा प्रस्ताव है जिसके तहत ईरान के खिलाफ सैनिक कार्रवाई की जा सकती है।

ईरान की सरकार ने इसे गुण्डों (bullies) की कार्रवाई कहा है और अपने नाभिकीय कार्यक्रम को जारी रखने का संकल्प दोहराया है। ईरान की संसद 'मजलिस' और 'अभिभावक परिषद' दोनों ने सरकार को इसपर विचार करके निर्णय लेने के लिए कहा है कि ईरान नाभिकीय अप्रसार सन्धि से अपने को अलग कर ले या उसमें बना रहे।

इसके पहले सितम्बर 2005 और फरवरी 2006 में अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी की बैठकों में अमरीका द्वारा दो बार प्रस्ताव लाया गया, जिसमें प्रावधान था कि अगर ईरान एक निर्धारित समय के भीतर अपने नाभिकीय कार्यक्रम पर रोक नहीं लगाता तो यह मामला सुरक्षा परिषद को सौंप दिया जायेगा। इसमें जो वोट पड़े उसमें भारत सरकार ने दोनों बार अमरीका का साथ दिया। सितम्बर 2005 की बैठक में वेनेजुएला ने प्रस्ताव का विरोध किया जबकि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के 10 देश तटस्थ रहे। रूस ओर चीन भी तटस्थ रहे थे। बाद की बैठक में रूस और चीन अमरीकी प्रस्ताव के समर्थन में आ गये, जिसमें ईरान को 28 अप्रैल तक अपना नाभिकीय कार्यक्रम रोक देने के लिए कहा गया था।

इन विषयों के जानकार इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अमरीका की अगुआई में साम्राज्यवादी समूह के देश ईरान पर हमले की तैयारी कर रहे हैं। इस प्रस्ताव पर अपने जरखरीद प्रचार माध्यमों के जरिये अमरीका दुनिया का जनमत तैयार करना चाहता है और ईरान को भड़काना चाहता है। ईरान का राष्ट्रपति उकसाने वाली बातें भी करने लगा है। इसतरह अमरीका एक फिजा तैयार कर रहा है ताकि ईरान पर अचानक एक घातक हमला (surgical strike) बोल सके। खोजी पत्रकार सैमूर हर्ष के जरिये अमरीकी युद्ध-विभाग द्वारा खबरें लीक की गयी हैं, जिनमें कहा गया है कि अमरीका बन्द कमरों में युद्ध की योजना (वार्ड रूम एक्सरसाइज) बना रहा है और एक साथ 1,000 ठिकानों पर कारपेट बमबारी की योजना बना रहा है। इस हमले में छोटे नाभिकीय हथियारों के इस्तेमाल की भी पूरी सम्भावना है ताकि नातांन में जमीन के 75 फीट नीचे स्थित उसके नाभिकीय संवर्धन कार्यक्रम को ध्वस्त किया जा सके। अमरीकी युद्धपोत, मिसाइलें और बमवर्षक इसमें हिस्सा लेंगे; यह एक अचानक किया गया घातक हमला होगा, अचानक हमला करके हट जाना होगा। यह एक ऐसी त्वरित सैनिक कार्रवाई होगी जिसमें ईरान तबाह हो जायेगा लेकिन अमरीका का कुछ नहीं बिगड़ेगा। हो सकता है इसी में ईरान में हुकूमत बदलने और अमरीका-परस्त सरकार बैठाने की उसकी नीयत भी छिपी हो।

शायद ही अमरीका अपनी फौजें ईरान की जमीन पर उतारे। इराक पहले से ही उसके गले में हड्डी की तरह अँटका हुआ है ओर उसके गले और पूरे शरीर पर लगे हजारों घावों से खून रिस रहा है, ऐसे में वह अपने गले में दूसरी उससे बड़ी हड्डी नहीं डालना चाहेगा। ईरान की सरकार भी, एक ऐसे समय में जबकि अमरीका ईरान की मदद से इराक में अपने गले में फँसी हुई हड्डी को निकालना चाहता है, शायद ही इसतरह के अचानक हमले का जोखिम उठाये। क्योंकि ईरान की हुकूमत और वहाँ के लोगों के लिए भी यह बहुत ही दु:खद और विनाशकारी होगा। 9 मई के अखबारों में छपी हुई यह खबर कि ईरान के राष्ट्रपति ने अमरीका के राष्ट्रपति को एक पत्र लिखा है, उपरोक्त बातों की और इशारा करती है।

ईरान के यूरेनियम संवर्धन, नाभिकीय प्रसार और परमाणविक हथियारों के मामले अभी अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी में चली बहसों, सुरक्षा परिषद की बहसों, अन्तरराष्ट्रीय सन्धियों, तकनीकी बातों, नियम-कानून और समाचार पत्रों की

बहसों तक ही सीमित हैं। कूटनीतिज्ञ, राजनेता और उनके सलाहकार, सभी इस मामले को इसी दायरे की बहसों में उलझाये हुए हैं लेकिन बात इतनी सीधी-साधी नहीं है। इन सारी बातों के पीछे बहुत ही महत्वपूर्ण बातें छिपी हुई हैं।

शीतयुद्ध, कूटनीतिक मोर्चे की लड़ाई, राजनीतिक मंचों पर चलने वाले संघर्ष, मनोवैज्ञानिक युद्ध और युद्ध-साक्षात् (सीधे, हथियारों से लड़ा जाने वाला युद्ध) यह सभी कुछ एक सतत् प्रक्रिया से जुड़े हैं और मूलत: एक ही चीज हैं। युद्ध राजनीति का ही जारी रूप है। जब राजनीतिक काम, कूटनीति और मनोवैज्ञानिक लड़ाइयाँ केन्द्रीय समस्या का समाधान करने में असमर्थ हो जाते हैं तो उसे युद्ध के मैदान में हल किया जाता है। युद्ध में एक या दूसरे पक्ष का हित-साधन होता है या दोनों कुछ ले-देकर समझौता करते हैं। इससें से कोई भी प्रक्रिया एक-दूसरे से अलग नहीं है, अविच्छिन्न रूप से जुटी हुई है और पूरी प्रक्रिया एक केन्द्रीय समस्या के हल के लिए चलती रहती है। समय-समय पर उसके रूप और मंच अलग-अलग होते हैं। हम एक-एक करके इसका खुलासा करेंगे।

अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी ने अमरीका की शह पर ईरान से दिसम्बर 2003 में एक अतिरक्ति प्रोटोकॉल पर दस्तखत करवाये थे। इसके तहत ईरान नाभिकीय अप्रसार सन्धि के तहत मिले परमाणु संवर्धन के अधिकार को ''स्वैच्छिक तौर पर स्थगित करने'' के लिए सहमत हो गया था। यह प्रोटोकॉल अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी के जाँचकर्ताओं को उन नाभिकीय संयन्त्रों के औचक निरीक्षण की भी इजाजत देता है जिन पर उन्हें यह सन्देह हो कि वे परमाणु हथियार कार्यक्रम के अंग हैं । इस प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर के तीन महीने के भीतर अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी ने इसे 'मजलिस' से पुष्ट कराने में विफल रहने के लिए ईरान के सरकार की आलोचना की और ईरान के ऊपर अपने नाभिकीय संवर्धन कार्यक्रम को रोकने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। नाभिकीय अप्रसार सन्धि के तहत ईरान इस तरह के किसी प्रोटोकॉल पर दस्तखत के लिए बाध्य नहीं था। लेकिन उसके हाथ-पैर रस्सी से बाँधकर जकड़ देने के लिए इस प्रोटोकॉल पर दस्तखत करवाये गये।

अमरीका ऐसा ही करता है। पहले एक शर्त, फिर दूसरी, फिर तीसरी...और शर्तों का अन्तहीन सिलसिला शुरू हो जाता है, जबतक कि विरोधी पूरी तरह लकवाग्रस्त न हो जाय। ईरान भी अब इस बात को समझ गया है। दिल्ली को छोड़कर दुनिया की सारी राजधानियाँ भी इसे समझती हैं। आज ईरान जो कुछ भी कर रहा है, उसका नाभिकीय संवर्धन कार्यक्रम हो या दूसरी कार्रवाइयाँ, ईरान के साथ कितनी भी सख्ती करके क्यों न देखा जाय, वह कहीं से भी किसी अन्तरराष्ट्रीय सन्धि या निमय-कानून का उल्लंघन करता हुआ नहीं दिखायी देता। लेकिन इसके बावजूद अमरीका लगातार उसे चारों ओर से बाँधने की कोशिश में लगा है और साम्राज्यवादी समूह उसका साथ दे रहा है।

लेकिन सच्चाई मात्र इतनी ही नहीं है। ईरान खुद तो जानता ही है, अमरीका और सारी दुनिया भी जानती है कि ईरान की मंशा परमाणु हथियार बनाने की है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ईरान को परमाणु हथियार बनाने का अधिकार है? इसका एक ही उत्तर है, हाँ! जानकारों के मुताबिक इजरायल के पास 200 से ज्यादा नाभिकीय हथियार हैं। भारत और पाकिस्तान के पास भी नाभिकीय हथियार हैं। चीन और रूस के पास न सिर्फ नाभिकीय हथियारों के बड़े जखीरे हैं बल्कि उन्हें इस्तेमाल करने के लिए मिसाइलें भी हैं। फ्रांस, ब्रिटेन और अमरीका के पास हजारों नाभिकीय हथियार हैं। इसके अलावा कतर, इराक, तुर्की, उज्बेकिस्तान और अफगानिस्तान में अमरीका के सैनिक अड्डे हैं, जहाँ नाभिकीय हथियार जमा करके रखे गये हैं। नाभिकीय हथियारों से लैस अमरीका के विमानवाही पोत और पनडुब्बियाँ ईरान के दक्षिणी तट पर गश्त करती रहती हैं। जर्मनी और जापान चन्द दिनों में ही आणविक हथियार और अन्तरमहाद्वीपीय मिसाइलें बना सकते हैं। वे इसमें पूर्णत: सक्षम हैं लेकिन दोनों ही अमरीका की नाभिकीय छतरी के नीचे अतिसुरक्षित हैं। उत्तर कोरिया के पास भी नाभिकीय हथियार हैं। दक्षिणी अफ्रीका, युक्रेन और ब्राजील जैसे देश भी नाभिकीय हथियारों का निर्माण कर सकते हैं। इजरायल को अमरीका ने नाभिकीय हथियार दिये हैं। इसमें ब्रिटेन का भरपूर सहयोग है और साम्राज्यवादी समूह का पूरा समर्थन है। खुद अमरीका इजरायल को मध्यपूर्व में अपना दरोगा (cop of the beat) कहता है। यह सब कुछ कह देता है। ब्रिटेन के नाभिकीय हथियार और उसके अड्डे भी अमरीका के सहयोग से निर्मित हुए। उत्तर कोरिया को नाभिकीय हथियार बनाने की तकनीक मुहैय्या कराने में रूस और चीन का सहयोग रहा है। अमरीका और ब्रिटेन के विरोध के बावजूद फ्रांस के राष्ट्रपति जनरल द-गॉल नाभिकीय कार्यक्रम को चलाते रहे और नाभिकीय हथियार बनाकर ही राहत की साँस ली। जनरल द-गॉल दूसरे महायुद्ध के समय से ही अमरीका और ब्रिटेन के खिलाफ

अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे। वे इस बात को अच्छी तरह से समझते थे कि बिना नाभिकीय हथियारों के उनके देश की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता सुरक्षित नहीं है। यूरोप के देशों की अमरीका से आज जितनी भी आजादी है, उसका श्रेय विचारधारा के तौर पर द-गॉल को ही जाता है।

आज अगर उत्तर कोरिया के पास नाभिकीय हथियार नहीं होते तो वह सर ऊँचा करके अमरीका के समाने खड़ा नहीं रह सकता था। अमरीका उसे मिट्टी में मिला देता। माओ ने नाभिकीय हथियारों की महत्ता को समझा और पूरी साम्राज्यवादी दुनिया और रूस की धमकियों और गीदड़-भभकियों की परवाह न करते हुए नाभिकीय हथियार बनाये।

रूस में स्तालिन में 1949 में नाभिकीय हथियार बनाने में सफलता हासिल की। अगर रूस के पास नाभिकीय हथियार नहीं होते तो उसके अस्तित्व का कायम रहना मुश्किल था। अपने नाभिकीय हथियारों के दम पर ही पुतिन आज रूस की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता को कायम रखने में काफी हद तक समर्थ है। नाभिकीय हथियार अन्तरराष्ट्रीय जगत में एक प्रबल अवरोधक (deterant) है और विश्व में शक्ति-सन्तुलन कायम रखने में सहायक है। जहाँ तक जिम्मेदार देश और गैर-जिम्मेदार देश की बात है परमाणु अप्रसार के मामले में अमरीका दुनिया का सबसे गैर-जिम्मेदार देश है। उसने हिरोशिमा और नागासाकी पर उस समय बम गिराये जब जापान युद्ध में लगभग पराजित हो चुका था। चर्चिल ने अमरीका को रूस पर परमाणु बम गिराने की सलाह दी थी जिससे अमरीका ने साफ अस्वीकार कर दिया था। इस तरह ब्रिटेन और अमरीका दुनिया के सबसे गैर-जिम्मेदार देश हैं। अगर दुनिया के इतने देशों के पास नाभिकीय हथियार नहीं होते तो दुनिया का शहंशाह बनने की महत्वाकांक्षा की ग्रन्थि से पीड़ित अमरीकी थैलीशाह और उनके मनोरोगी सियासी रहनुमा क्रूर बुश क्या नहीं कर डालते, कहना मुश्किल है। उस विनाशकारी, भयावह दृश्य की कल्पना-मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

अमरीका, रूस, ब्रिटेन इत्यादि सभी देश अपने नाभिकीय हथियारों के विशाल जखीरों को कायम रखते हुए, जिससे दुनिया का कई बार विनाश किया जा सकता है, समय-बा-समय नाभिकीय निरस्त्रीकरण का नाटक खेलते रहते हैं। नाभिकीय हथियारों के प्रसार की समस्या का एक ही समाधान है—पूर्ण निरस्त्रीकरण। इसकी सबसे बड़ी बाधा अमरीका है। अमरीका में नाभिकीय हथियारों के जखीरे के रहते और उसकी दुनिया की शंहशाह बनने की महत्वकांक्षा के मौजूद रहते पूर्ण निरस्त्रीकरण की सफलता की उम्मीद करना व्यर्थ है।

ऐसा नहीं है कि ईरान के शासक वर्गों की क्षेत्रीय महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा नहीं है और वह नाभिकीय हथियार नहीं बनाना चाहता लेकिन सिर्फ तेल पर आधारित होने के कारण उसकी अर्थव्यवस्था अभी इतनी ताकतवर नहीं है कि वह हमला करने के लिए उनका इस्तेमाल कर सके। अभी काफी दिनों तक ईरान इस स्थिति में नहीं आयेगा कि वह किसी देश के खिलाफ नाभिकीय हथयारों का इस्तेमाल करे। अत: ईरान का नाभिकीय हथियार कार्यक्रम प्रतिरोधात्मक और सुरक्षात्मक है। यह मध्यपूर्व, एशिया और तीसरी दुनिया में शक्ति-सन्तुलन कायम करने और शान्ति स्थापित करने में मददगार होगा।

अमरीका को शिकायत यह नहीं है कि ईरान के पास नाभिकीय हथियार हैं या हो जायेंगे। दुनिया के कई देशों—इजरायल, भारत, पाकिस्तान, चीन आदि के पास भी तो नाभिकीय हथियार हैं, लेकिन अमरीका को उनसे कोई शिकायत नहीं है। यदि ईरान अमरीका की अधीनता स्वीकार कर ले और भारत की तरह उसकी विश्व रणनीति का एक पहिया बन जाय तो उसे कोई दिक्कत नहीं होगी। इसलिए इस प्रश्न को हम अन्तरराष्ट्रीय सन्धियों, नियम-कानूनों और कूटनीति की सधी हुई भाषाओं की परिधि में नहीं समझ सकते।

1985 से 1990 के बीच विश्व राजनीति में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने अमरीका के इस मन्सूबे को और हवा दी है कि वह दुनिया का शहंशाह बन सकता है। उसने एक के बाद एक सिद्धान्तों और नीतियों का प्रतिपादन किया है और करता जा रहा है जिनका संक्षेप में अर्थ यह है कि अमरीका को छोड़कर कोई भी देश सम्प्रभुता-सम्पन्न नहीं हो सकता। अगर कोई देश उसके साम्राज्यवादी हितों की अनदेखी करता है, अनसुनी और विरोध करता है तो उसे एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में कायम रहने का कोई अधिकार नहीं है। उसकी अधीनता को स्वीकार करना सभी देशों के लिए अपरिहार्य है। जो देश ऐसा नहीं करते उन पर तरह-तरह की तोहमतें और मनगढ़न्त आरोप लगाकर, अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरे का बहाना बनाकर उन पर हमला करना, उन्हें तबाह करना और उनकी पुरानी सरकारों को बदलकर कठपुतली सरकार कायम करना अमरीका अपना विशेषाधिकार समझता है। इतना ही नहीं, खतरे का सन्देह होने पर सम्बन्धित देश के खिलाफ नाभिकीय हथियारों का इस्तेमाल करना भी वह अपना अधि

कार समझता है। ऐसा देश दूसरे देशों पर गैर-जिम्मेदार होने का आरोप भला कैसे लगा सकता है। यह तो वही बात हुई कि उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।

ऐसा नहीं कि रूस और चीन को अमरीका अपनी महत्वाकांक्षा की परिधि के बाहर रखता है। अन्ततोगत्वा उनकों अपने अधीन करके, उन देशों में अपनी मनपसन्द सरकारे बैंठाकर अपने इन प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों की कमर तोड़कर ही वह समूचे विश्व का शहंशाह बनने का अपना सपना पूरा कर सकता है। चूँकि युद्धनीति के मुताबिक अभी उन्हें छेड़ना विनाशकारी होगा, इसलिए आज वह उत्तर कोरिया, ईरान, सीरिया, क्यूबा, वेनेजुएला इत्यादि देशों को अपना निशाना बनाये हुए है। इनके ढह जाने से उसके मन्सूबे पूरा होने की ओर बढ़ेंगे और तीसरी दुनिया के वे देश जिन्होंने उसकी अधीनता पूरी तरह से स्वीकार नहीं की है, उनकी रही-सही स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जायेगी तथा उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रूस और चीन भी लँगड़े-लूले हो जायेंगे। इसलिए ऐसा सोचना बहुत बड़ी भूल होगी कि यह लड़ाई सिर्फ ईरान के खिलाफ है। अमरीका पूरी दुनिया को पराधीन करने की लड़ाई लड़ रहा है। अमरीका के खिलाफ लड़ने वाला ईरान हो या इराक के जाँबाज या उत्तर कोरिया के बहादुर लोग वस्तुगत तौर पर वे पूरे विश्व को स्वतन्त्र करने की लड़ाई लड़ रहे हैं। बहुतेरे देश जिन्हें कुछ घूस देकर अमरीकी साम्राज्यवाद ने घुटनों के बल झुकने के लिए कहा था, आज अमरीका के सामने रीढ़विहीन केंचुए की तरह रेंगते हुए दिखाई दे रहे हैं, जिनमें से एक दिल्ली की सरकार भी है। कुछ अन्य देशों को एक छोटी-सी सैनिक कार्रवाई करके डरा दिया गया और उनकी बोलती बन्द हो गयी तथा उन्होंने चुपचाप अमरीका की अधीनता स्वीकार कर ली। इसमें लीबिया का कागजी बाघ भी आता है। इसलिए स्वतन्त्रता की कामना रखने वाले हर बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष को क्यूबा, वेनेजुएला, ईरान, इराक, फिलिस्तीन, उत्तर कोरिया और दुनिया-भर के उन करोड़ों बहादुर लोगों का शुक्रगुजार होना चाहिए जो अमरीकी साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे हैं।

ईरान और अमरिका की दुश्मनी 1979 की राजनीतिक क्रान्ति और ईरान के शाह के पतन से शुरू होती है। 1953 में ईरान में मुसद्दक की चुनी हुई राष्ट्रवादी और धर्मनिरपेक्ष सरकार को पदच्युत करके अमरीका और इंग्लैण्ड ने अपनी कठपुतली के रूप में शाह को गद्दी पर बैठाया। साम्राज्यवादी कभी भी किसी चुनी हुई सरकार और राष्ट्रवादी नेताओं को फूटी आँख नहीं देखना चाहते। 1953 में शाह के सत्ता में आने से लेकर 1979 की राजनीतिक क्रान्ति तक ईरान अमरीका का वफादार और अश्रित (क्लाइण्ट) राज्य बना रहा। शाह के पलायन के बाद ईरान में एक सम्प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण हुआ। तेल और गैस का राष्ट्रीयकरण करके ईरान ने ऊर्जा-क्षेत्र पर अमरीकी प्रभुत्व को खत्म कर दिया। तभी से वह अमरीका के आँखों की किरकिरी बन गया। उसको ध्वस्त करने के लिए अमरीका ने कुछ भी उठा नहीं रखा। चूँकि अमरीका तुरन्त ही वियतनाम में बुरी तरह से पराजित हुआ था इसलिए वियतनाम सिण्ड्रोम की ग्रन्थि से पीड़ित अमरीका ऐसी स्थिति में नहीं था कि ईरान की राजनीतिक क्रान्ति को कुचल देता। इसलिए उसने सी.आई.ए. द्वारा पाले-पोसे हुए इराक के सद्दाम हुसेन को उकसा कर ईरान पर हमला करवाया। यह युद्ध लगभग एक दशक तक चलता रहा। लाखों की संख्या में लोग मारे गये, 300 से ज्यादा इराकी मिसाइलों ने ईरान के शहरों, आर्थिक केन्द्रों और खासकर तेल प्रतिष्ठानों पर हमले किये। युद्ध के अन्तिम चरण में फारस की खाड़ी में तैनात अमरीकी युद्ध-पोतों ने ईरान की आधी नौसेना को तबाह कर दिया और नागरिकों से भरे हुए ईरान के एक हवाई जहाज को मार गिराया। फिर भी अमरीका के मन्सूबे पूरे नहीं हो सके। ईरान एक स्वतन्त्र देश के तौर पर खड़ा रहा। अमरीका ने साम, दाम, दण्ड, भेद–सभी तरीकों से उसे झुकाने का प्रयास किया लेकिन अब तक सब कुछ विफल होता रहा और ईरान अमरीका के मन्सूबे में बाधक बना रहा। 1979 से लेकर आज सुरक्षा परिषद में पेश किये जाने वाले इस प्रस्ताव तक का पूरा दौर ईरान और अमरीका के बीच एक लम्बे युद्ध को दर्शाता है जो कभी प्रत्यक्ष कभी परोक्ष, कभी किसी दूसरे देश के जरिये, कभी कूटनीति तो कभी राजनीति के जरिये विभिन्न मंचों पर और विभिन्न तौर-तरीकों से लड़ा जाता रहा है। यह युद्ध अभी भी जारी है। इसका अन्तिम परिणाम दुनिया के भविष्य को प्रभावित करेगा।

ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि साम्राज्यवादी समूह के देशों की अगुआई अमरीका करता है। एक साम्राज्यवादी समूह के रूप में दुनिया पर शासन करने और तीसरी दुनिया के देशों का शोषण-उत्पीड़न करने की इन देशों की महत्वकांक्षा है। इनकी कामना है कि शक्ति और क्षमता के मुताबिक संसाधनों की लूट में इनको हिस्सा मिले। अपने इसी स्वार्थ के लिए ये देश अमरीका की अगुआई स्वीकार करते हैं। इसके साथ ही ब्रिटेन फ्रांस, जर्मनी यह भी चाहते हैं कि उनकी स्वतन्त्रता भी बनी

रहे। वे अमरीका के प्रतिद्वन्द्वी और एक अलग ध्रुव के रूप में कायम रहना चाहते हैं। यही इनकी छटपटाहट का कारण है। इसतरह से इनका एक दोहरा चरित्र बनता है जो ईरान, इराक, सीरिया आदि सभी मामलों में स्पष्ट दिखायी देता है।

रूस, चीन, अमरीकी साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी समूह के देशों के हित एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं। वे नाभिकीय क्लब के विशिष्ट सदस्य हैं और उसकी सदस्यता सीमित रहे, इसी में उनकी दिलचस्पी है। दूसरी ओर, अमरीकी साम्राज्यवाद के मन्सूबे और उसके द्वारा चली जा रही चालें रूस और चीन के लिए नुकसानदेह हैं। दूरगामी तौर पर इन्हें पराधीन होने का खतरा भी दिखता रहता है। ईरान के साथ इनके आर्थिक हित जुटे हुए हैं। इनके और अमरीका के राष्ट्रीय हितों में जगह-जगह पर टकराहट होती है। इन सब कारणों से ईरान के मुद्दे पर इनका एक कमजोर-सा विरोध है। कभी वे तटस्थ रहते हैं, कभी समर्थन करते हैं, तो कभी विरोध करते हैं। इनका व्यवहार निहित स्वार्थों के इसी दायरे में समझा जा सकता है। ये अपने तात्कालिक हितों को प्रधानता देते हैं और सोचते हैं कि कालान्तर में ताकतवर बनकर वे अमरीकी साम्राज्यवाद का मुकाबला करने में सक्षम हो सकेंगे। इसलिए यह समझते हुए भी कि ईरान की पराधीनता इनके हितों के लिए नुकसानदेह होगी और उसके दूरगामी प्रभाव उनके लिए बहुत ज्यादा प्रतिकूल होंगे, वे कोई सख्त रुख अख्तियार नहीं कर रहे हैं।

भारत जैसे देशों का तो कहना ही क्या? इनकी हालत तो ऐसी बनती जा रही है कि ये मालिकों के हाव-भाव और इशारों से ही उनके हितों को समझकर उनके अनुरूप आदेश का पालन करने के लिए पहले से तैयार रहते हैं। ये भारतीय जनता, दुनिया की जनता और सरकारों को गुमराह करने के लिए दबी जुबान से विरोध करते-से प्रतीत होते हैं। लेकिन अन्ततः कार्रवाइयाँ ही निर्णायक होती हैं, किसी की सदिच्छा से कुछ भी नहीं बनता। कार्रवाइयों में ये अमरीका का साथ देने लगे हैं। इनकी नीतियाँ भारत के तात्कालिक और दूरगामी, दोनों ही हितों के विरुद्ध हैं।

हाल ही में खबरें आयी हैं कि अरब देशों ने ईरान को समझाने का प्रयास किया है कि वह अमरीका की बात मान ले। उन्हें मालूम है कि ईरान उनके लिए भी लड़ रहा है लेकिन अपनी आजादी के साथ-साथ उन्हें पैट्रोडालर और शेखों, शाहों और शाहंशाहों की निजी सम्पत्ति की भी सुरक्षा करनी है। यह परिस्थिति ही इनके द्वन्द्व के मूल में है। हम पहले कह आये हैं कि ईरान में अपने थलसैनिक भेजकर कठपुतली सरकार बैठाने के बारे में सोचना भी अमरीका के लिए कठिन है। हाँ! लीबिया के कागजी बाघ की तरह ये भी डर गये तो बात दूसरी है। अचानक घातक हमला बोलकर हट जाना भी अमरीका के लिए एक बहुत मँहगा सौदा साबित होगा। ईरान से बेरूत तक और बेरूत से सीरिया तक इराक, सउदीअरब, आबूधाबी, कुवैत सभी जगहों पर फैले हुए शिया समुदाय तथा मध्यपूर्व की आम आबादी अमरीका की इस कार्रवाई का विरोध करेगी और अमरीका के लिए भारी मुसीबत पैदा हो सकती है। अगर अमरीका इस पूरे लम्बे-चौड़े युद्धक्षेत्र में सैनिक कार्रवाई में उलझा तो यह युद्ध न सिर्फ अमरीकी जनता के लिए बल्कि वहाँ के हुक्मरानों के लिए भी विनाशकारी साबित होगा। यह युद्ध बहुत लम्बे समय तक खिंचने वाला युद्ध होगा। कई बार यह चर्चा हो चुकी है कि इराक में अमरीका हार चुका है और वहाँ से निकलने की उसे कोई राह नहीं सूझ रही है। इराक-मामले में अमरीका ईरान की सहायता लेता रहा है। ईरान के शासक भी अपने सद्दाम-विरोध और सुन्नी-विरोध के चलते अन्धों जैसा व्यवहार करते रहे हैं और अपने दूरगामी हितों के विपरीत अमरीकी साम्राज्यवाद को समर्थन देते रहे हैं। अफगानिस्तान के मामले में भी इन्होंने ऐसा ही किया था। हो सकता है कि इन्हें अपने पापों का प्रायश्चित करना पड़े।

इसतरह अगर अमरीका ईरान पर अचानक हमला करके हट जाता है, जिसमें उसके एक हजार ठिकानों पर कारपेट बमबारी और सीमित नाभिकीय हथियारों का इस्तेमाल शामिल है, तो भी यह एक ऐसे दीर्घकालिक युद्ध की शुरुआत होगी जो अन्ततोगत्वा अमरीकी साम्राज्यवाद के दूरगामी हितों और और उसके मन्सूबो की कब्रगाह बन सकता है।

वस्तुनिष्ठ रूप से, मध्यपूर्व में लड़ी जा रही ये लड़ाइयाँ सिर्फ मध्यपूर्व की लड़ाई नहीं है बल्कि वहाँ के सभी राष्ट्रों की सम्प्रभुता की लड़ाई है, तीसरी दुनिया की लड़ाई है और यहाँ तक कि रूस-चीन की भी लड़ाई है। यह लड़ाई दुनिया की जनता के सबसे क्रूर, निर्दयी और खूँखार दुश्मन अमरीकी साम्राजयवाद के दुनिया का शाहंशाह बनने के मन्सूबे के खिलाफ लड़ी जा रही है। वस्तुनिष्ठ रूप से यह दुनिया की जनता के लिए लड़ा जा रहा युद्ध है जिसका दूरगामी असर होगा। (9 मई 2006) □

आरक्षण के समर्थन और विरोध में फँसा भारतीय समाज: असलियत क्या है?

मानव संसाधन विकास मन्त्री अर्जुन सिंह द्वारा आई.आई.टी, आई.आई.एम. और एम्स समेत तमाम केन्द्रीय उच्च शिक्षण संस्थानों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का प्रस्ताव पेश किये जाने से एक बार फिर आरक्षण का मामला गर्मा गया है। समाज के मुखर तबके, खासकर के छात्र, नेता, उद्योगपति इत्यादि इसके पक्ष और विपक्ष में खड़े दिखायी दे रहे हैं। दोनों तरफ से आने वाले तर्क भी वही पुराने हैं, जो कई बार दिये जा चुके हैं और फिर दोहराये जा रहे हैं।

सदियों से शोषित-उत्पीड़ित-दलित, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जाति और अन्य पिछड़ी जाति का बहुलांश, जिनकी आबादी 80-85% पहुँचती है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अमानवीय जीवन जीते रहे हैं। 1947 से कुछ पहले और खास तौर पर उसके बाद आरक्षण दिये जाने के चलते तथा समाज में हुए आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों के चलते इनका एक छोटा हिस्सा सुविधाभोगियों की कतार में शामिल हुआ है, लेकिन इसकी संख्या बहुत ही कम है।

समूचे भारत में अलग-अलग राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं तथा धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों की अपनी अलग-अलग सामाजिक आर्थिक हैसियत और पहचान है। धर्म परिवर्तन के बावजूद इस्लाम या ईसाइयत कबूल करने वालों में भी किसी न किसी तरह से जातियाँ बनी हुई हैं। नव-बौद्ध दलित भी जातियों के पुराने ढाँचे से मुक्त नहीं हुए। सिख और जैन दो धर्मों के लोगों की स्थिति इस्लाम, ईसाइयत और नव-बौद्धों से भिन्न है। आरक्षण का सवाल इन सभी लोगों को किसी न किसी रूप में अपील करता है और आज तक इसका कोई समाधान नहीं निकल पाया है।

गाँधी और अम्बेडकर के रहते ही जब अछूतिस्तान की माँग उठी थी तो यहाँ के जागरूक शासक वर्गों में दुश्चिन्ता और भय का संचार हुआ था। पाकिस्तान की माँग पहले ही उठने लगी थी। गाँधी के अनशन और गाँधी-अम्बेडकर समझौते के फलस्वरूप यह माँग नेपथ्य में चली गयी।

वास्तव में, आरक्षण शासक वर्गों द्वारा दलितों के बीच से एक हिस्से को अपने में समो लेने का एक तरीका है। यह शासक वर्गों द्वारा दलितों के साथ किया गया एक धोखा है। शासक वर्ग इस बात से भयाक्रान्त थे कि सदियों से दबे-कुचले लोग अब अपने अधिकारों को लेकर ही रहेंगे और किसी भी तरह से उनको उनके सही सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक- सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। यदि उस समय कुछ किया नहीं गया होता तो यह क्रान्ति को निमन्त्रण देना होता या उस समय चल रहे क्रान्तिकारी संघर्षो में उन्हें धकेल देना होता। शासक वर्गों के समाने उनके अस्तित्व का संकट था। इसे ही हल करने के लिए आरक्षण की नीति लागू की गयी और शासक वर्ग गरीबों को छलने में सफल हुआ। गरीबों को सारे मूलभूत सामाजिक-अर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखकर उनके आक्रोश को ठण्डा करने में आरक्षण की बहुत बड़ी भूमिका रही है।

दलितों को यह समझना चाहिए कि उनके मूलभूत अधिकारों–जमीन, पूँजी और देश की पूरी सम्पत्ति में उनके उचित हिस्से की जगह उन्हें आरक्षण दिया गया है जो कभी भी उसका विकल्प नहीं बन सकता। इसलिए आज भी उनकी लड़ाई इस देश की समूची सम्पत्ति में उनके वाजिब हक के इर्द-गिर्द ही बनी हुई है, जिसके केन्द्र में भूमि-सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन, जमीन जोतने वाले को इत्यादि बातें थीं, जिन्हें शासक वर्गों ने पूरा नहीं किया।

इसलिए बहस का विषय यह नहीं है कि उनको आरक्षण मिलना चाहिए अथवा नहीं। बहस का यहीं तक सीमित रहना उनके लिए दुर्भाग्य की बात है। 15-20% उच्च जातियों के लोग आज देश की सम्पदा के बहुत बड़े हिस्से के मालिक हैं। आज की उत्पादन प्रणाली का नियमन इन्हीं लोगों द्वारा अपने फायदे के लिए किया जाता है। देश की सालाना पैदावार के बँटवारे में एक बहुत ही छोटा हिस्सा दलितों को मिलता है जिससे वे भूखे-नंगे रहकर जी लेते हैं।

उच्चवर्ग के 15-20% लोगों–नौकरी-पेशा लोगों, छात्र-छात्राओं और उनके सभी हिमायतियों को यह बहुत अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि किसी भी तरह से आरक्षण का विरोध करना उनके लिए न सिर्फ नैतिक तौर पर गलत है बल्कि अपने विनाश को आमन्त्रित करना है। उन्हें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि कांग्रेस-भाजपा, सपा-बसपा और दूसरी पार्टियाँ यदि अपनी माँगों को आरक्षण तक ही सीमित रखते हैं तो उन्हें इन पार्टियों का शुक्रगुजार होना चाहिए क्योंकि वे यथास्थिति, उनकी वर्तमान हैसियत और इस व्यवस्था को बनाये रखने में उनकी मददगार हैं। दलित-शोषित वर्गों को उनके हक का एक छोटा हिस्सा दिये जाने पर अगर उनको बुरा लगता है तो यह बात साफ है कि वे अपने विनाश को ज्यादा दिनों तक नहीं टाल सकते। अगर गृहयुद्ध की आग एक बार जली तो उसकी लपटें सारे विशेषधिकारों से सुसज्जित उनके महलों को जलाकर खाक कर देगी। सभी राजनीतिक पार्टियों के नेता इस बात को समझते हैं और इसीलिए आरक्षण संसदीय पार्टियों और उनके विभिन्न धड़ों की आम सहमति से यथास्थिति बनाये रखने का एक माध्यम बना हुआ है। इसके समर्थन और विरोध का दिखावा केवल अपने क्षुद्र, दलगत स्वार्थों की पूर्ति, विरोधियों को आकुलकारी स्थिति में डालने और एक-दूसरे की टाँग खींचने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

हम न केवल आरक्षण का समर्थन करते हैं बल्कि उससे आगे बढ़कर उन सभी बातों और तौर-तरीकों का भी समर्थन करते हैं जिससे इस समाज में आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक सभी तरह के भेदभाव और गैर-बराबरी को मिटाया जा सके और दलितों-पिछड़ों को समाज में पूर्ण बराबरी और समुचित स्थान मिल सके। सच्चाई यह है कि एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ही भारत के माथे से इस गहरे काले धब्बे को धो सकता है। □

गंगोलीहाट बलात्कार काण्ड: असली अपराधी कौन ?

11 अप्रैल को उत्तरांचल के पिथौरागढ़ जिले में गंगोलीहाट-स्थित शराब के ठेके को हटाने के लिए वहाँ दिन-रात धरना दे रही महिलाओं पर एक शराब-माफिया और उसके गुण्डों का कहर टूटा। रात के अन्धेरे में एक आन्दोलनकारी महिला को दरिन्दों ने सामूहिक बलात्कार का शिकार बनाया और उसे बेहोशी की हालत में छोड़कर फरार हो गये। दुराचार की शिकार महिला कई घण्टों तक बेहोशी की हालत में पड़ी रही।

हमारे देश के पहाड़ों में उत्तरांचल, अरुणाचल, हिमाचल आदि जगहों पर औरतों को जलाकर मारने या उनके साथ बलात्कार करने जैसी क्रूर घटनाएँ कभी सुनने में नहीं आती रही हैं। पहाड़ के लोग स्वभाव से ही मानव-गरिमा का पालन करते रहे हैं। भारी परेशानी, कमरतोड़ मेहनत, बाघों-खूँखार जंगली जानवरों तथा दुर्गम पहाड़ों और जंगलों से जूझती हुई पहाड़ की बहादुर औरतें सामन्ती मूल्यों-मान्यताओं-संस्कारों की वजह से गुलामी का जीवन जीने के लिए मजबूर रही हैं।

अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य देवभूमि के निवासी परम्परा से ही अपने दु:ख-दर्द को शराब में डुबोते रहे हैं, जो अब एक आदत में तब्दील हो गयी है। शराब आज इनकी जिन्दगी का एक अपरिहार्य हिस्सा बन गया है जो उत्तरांचल की जुझारू महिलाओं के जीवन को और भी नारकीय बनाता जाता है तथा खुद को चौगुनी-पाँचगुनी क्रूरता के साथ इनकी पीठ पर लादता जाता है। इनका जीवन जीने लायक नहीं रह जाता। निर्धनता, अशिक्षा, भूख-प्यास और कमरतोड़ मेहनत से झुकी इनकी कमर पर पुरुष-सत्ता का अतिरिक्त बोझ भी लद जाता है। इसके कोड़े इनकी पीठ पर पड़ते ही रहते हैं। इस उत्पीड़न, लाचारी और भूख-प्यास के आलावा बच्चों की भूख-प्यास, ठण्ड-ठिठुरन भी इन्हें ही सबसे अधिक झेलनी पड़ती है। ऐसे में शराबखोरी इनके जीवन में विपत्ति बन कर आती है। गाँव-शहर में खुलने वाला शराब का हर ठेका इनके लिए तबाही और बर्बादी का पर्याय बन जाता है। इस पिरस्थिति में यह स्वाभाविक है कि इसका विरोध हो, संघर्ष और आंदोलन हो। उत्तरांचल में शराब एक अरसे से संघर्ष का एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा है और अमूमन महिलाओं ने ही इसकी अगुआई भी की है।

उत्तरांचल राज्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली नारी-जाति पर हुए इस हमले से महिलाओं का गुस्सा एक बार फिर भड़क उठा तथा वे सड़कों पर आ गयीं। उत्तरांचल (विशेषकर कुमाऊँ मण्डल) के आम नागरिक भी बलात्कारियों के गिरफ्तारी की माँग को लेकर आन्दोलनकारियों के समर्थन में सड़कों पर उतर पड़े तथा धरना, प्रदर्शन और जुलूस का सिलसिला शुरू हो गया।

प्रशासन ने आन्दोलन की आग को ठण्डा करने के लिए अपने पुराने आजमाये हुए नुस्खे को लागू करते हुए इस घटना की न्यायिक जाँच के आदेश दिये हैं तथा गंगोलीहाट में स्थिति शराब के ठेके को तत्काल प्रभाव से बन्द कर दिया है।

आन्दोलन की तत्कालिक सफलता के बावजूद गंगोलीहाट की यह घटना तमाम सवाल खड़े करती है। जिन पर सोचना और उनका उत्तर तलाशना बहुत जरूरी है।

पिछले 10-15 वर्षों में हमारे देश में जो आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक बदलाव हुए, उन्हीं का नतीजा है कि हर जगह महिलाओं के उत्पीड़न की घटनाएँ तेजी से बढ़ी हैं। 3 साल की बच्चियों से लेकर 60 साल की बूढ़ी माताओं के साथ बलात्कार की घटनाएँ अक्सर सुनने को मिल रही हैं। उत्तरांचल की इस घटना को देश भर में महिलाओं के प्रति बढ़ रही हिंसा से काट कर नहीं समझा जा सकता।

आज हमारे समाज को एक नये साँचे में ढालने की कोशिश की जा रही है जिसकी नाभि में है पैसे की हवस। इसके लिए किसी भी तरह से मुनाफा कमाने की अन्धी दौड़ को प्रोत्साहित किया जा रहा है और मानवीय रिश्तों की एक नयी परिभाषा गढ़ी जा रही है। हर-एक चीज खरीदने और बेचने की वस्तु में तब्दील की जा रही है—जमीर, जिन्दगी, सब कुछ। इसके लिए सड़ी-गली पश्चिमी संस्कृति को अपना आदर्श घोषित किया जा चुका है। भूत और डायन की शादी करायी जा चुकी है। एक तरफ हमारे समाज में व्याप्त सामन्ती मूल्य-मान्यताएँ व पतनशील संस्कृति, स्त्री और पुरुषों के बीच का भयावह अलगाव तथा दोस्ती, प्यार और सहानुभूति से वंचित नौजवानों की पूरी पीढ़ी है, तो दूसरी तरफ है मानव-गरिमा से रहित, बेलगाम, उच्छृंखल और पतित पश्चिमी संस्कृति। इन दोनों संस्कृतियों की खिचड़ी से एक ऐसी विषैली कुसंस्कृति पैदा हो रही है जो तेजी से हमारे समाज को पतन के गर्त में धकेलती जा रही है।

पश्चिम से आयातित तकनीक भी सिर्फ अमीरों के लिए मुनाफे का साधन बन रही है और आम समाज की समस्याओं को दूर करने के बजाय उसे बढ़ा ही रही है। टी.वी.-कम्प्यूटर (इण्टरनेट) अश्लीलता के पर्याय बनते जा रहे हैं। प्लेब्वाय की तर्ज पर नंगी तस्वीरें छापने वाली पत्रिकाएँ खुलेआम बिकने लगी हैं। यहाँ तक कि रोज छपने वाले अंग्रेजी-हिन्दी अखबारों ने भी अपने पृष्ठ नंगी तस्वीरों से रंगने शुरू कर दिये हैं तथा समाज के एक बड़े हिस्से में अपनी पैठ बना चुके हैं। गाँव-गली और स्कूल-कालेजों में 'मिस' और 'सुन्दरी' प्रतियोगिताएँ होने लगी हैं। विज्ञापनों में नारी-देह का भोंड़ा प्रदर्शन पिछले 10-15 वर्षों में सारी हदों को पार कर गया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने उत्पादों की बिक्री के लिए जिस तरह नारीदेह का इस्तेमाल कर रही हैं, कोई भी समाज अपने को विकृत होने से नहीं बचा सकता। मुनाफा कमाने के लिए ईर्ष्या, द्वेष, सेक्स और लालच जैसी गन्दी मनोवृत्तियों को जिस तरह बढ़ावा दिया जा रहा है, वह पूरे समाज के लिए चिन्ता का विषय है। आज जितनी तेजी से अपसंस्कृति अपने पाँव पसार रही है और लोकसंस्कृति को धकेलकर बाहर करती जा रही है, उसी रफ्तार से समाज का अमानवीकरण होता जा रहा है। बच्चियों से होने

वाला दुष्कर्म बीमार होते समाज का चरम लक्षण है।

हमारी लड़ाई आज शराब-माफियाओं से तो है ही लेकिन मुख्यत: हमारी लड़ाई इनकी पीठ पर हाथ रखे उत्तरांचल और दिल्ली की राजसत्ताओं से है, जो न सिर्फ इनको बढ़ावा दे रही हैं बल्कि पश्चिम के साथ गठजोड़ करके इस पतित संस्कृति और गुलाम बनाने वाली नीतियों को हमारे ऊपर थोप रही हैं। अपने तत्कालिक संघर्षों के दौरान हमें इस बात को हमेशा ध्यान में रखना होगा कि जुल्म और अन्याय के खिलाफ हमारी हर लड़ाई इसी मंजिल के पड़ाव हैं। निर्भीक युवा पत्रकार उमेश डोभाल की शराब-मफियाओं के हाथों हुई निर्मम हत्या के बाद उपजे आक्रोश को हम सही दिशा में मोड़ पाने में क्यों असफल रहे? उमेश डोभाल की हत्या के अनुत्तरित प्रश्न गंगोलीहाट के जघन्य बलात्कार काण्ड के बाद आज फिर हमारे सामने आ उपस्थित हुए हैं।

उत्तरांचल की जुझारू जनता को इन्हीं सवालों का जवाब ढूँढना है। □

समाचार-विचार

गुजरात में फिर दंगे

गुजरात का बड़ोदरा शहर एक बार फिर साम्प्रदायिक दंगों की आग में जल रहा है। पाँच दिनों की गोलीबारी, लूटपाट और आगजनी के बाद सरकारी आँकड़ो के मुताबिक पाँच लोग मारे जा चुके हैं और सैकडों घायल हैं। इस दंगे ने 2002 में राज्य सरकार द्वारा उकसाये गये और उसी की प्रत्यक्ष भागेदारी में अंजाम दिये गये नृशंस नरसंहारों की याद ताजा कर दिया है।

बड़ोदरा नगर निगम द्वारा सड़क को चौड़ा करने के बहाने सूफी सन्त सैयद रशीदुद्दीन चिश्ती की 385 साल पुरानी दरगाह को ध्वस्त करके, एक सोचे-समझे षड्यन्त्र के तहत इस दंगे को भड़काया गया। जिस दरगाह को अतिक्रमण बताकर जमींदोज किया गया उसका जिक्र बड़ौदा के सयाजीराव महाराज द्वारा 1912 में करवाये गये शहर के पहले सर्वेक्षण में भी है। इसके बावजूद कि यहाँ रोज के दीया-बाती और खर्चों की जिम्मेदारी हिन्दुओं को हासिल थी, 1969 के दंगों से ही इसे हमले का निशाना बनाया जाता रहा है। इस लिहाज से यह दरगाह पहले से ही साम्प्रदायिक तत्वों के आँखों का काँटा बना हुआ था। इसको हटाये जाने के बारे में जब सभी सम्बन्धित पक्षों के बीच बातचीत अभी जारी ही थी, तभी भाजपा के बहुमत वाले नगर निगम ने सभी अतिक्रमणों को हटाने के उच्च न्यायालय के एक फैसले का सहारा लेते हुए उसे जमीन से मिला दिया। अशान्ति की आशंका को देखते हुए स्थानीय मुस्लिम आबादी असली मजार को छोड़ कर बाकी ढाँचे के एक बड़े हिस्से को स्वयं ही हटाने पर सहमत हो चुकी थी। जब इस दरगाह को ध्वस्त किया जा रहा था तो भाजपा, विहिप और बजरंग दल के समर्थकों की भारी भीड़ विजयोल्लास के साथ नारे लगा रही थी। बड़ोदरा के भारतीय जनता पार्टी के एक प्रमुख मुस्लिम चेहरे गनी कुरैशी तक ने यह स्वीकार किया है कि ''दरगाह का गिराया जाना एक सोचा-समझा षड्यन्त्र था। नगर निगम के अधिकारियों ने हमसे वादा किया था कि इसे गिराया नहीं जाएगा। हम लोग समझौते के फार्मुले पर काम कर रहे थे पर वे पीछे हट गये और इसे ध्वस्त कर दिया।''

दरगाह को गिराने का विरोध करने के लिए शान्तिपूर्ण ढंग से धरना दे रही भीड़ के साथ भी पुलिस ने वही 2002 वाला सलूक किया। भीड़ पर गोली चला दी गयी और दो लोग मारे गये। इसके बाद तनाव और अफवाहों को तो फैलना ही था और उससे निपटने का तरीका भी वही पुराना था। पुलिस द्वारा पक्षपातपूर्ण व्यवहार और मुस्लिम समुदाय को 'सबक सिखाने' की ढेरों वारदातें समाने आयी हैं।

उसी दिन शाम को जब 38 वर्षीय रफीक अब्दुल गनी की कार को एक भीड़ ने रोका तो अगले दो घण्टों तक पुलिस का वहाँ कहीं नामो-निशान नहीं था। कर्फ्यू के बावजूद भीड़ बढ़ती रही और एक हजार लोगों की हो गयी। उस भीड़ ने गनी को जिन्दा जला दिया। इस बीच स्थानीय लोगों ने पुलिस की मदद की गुहार में करीब 200 फोन किये। लेकिन बड़ोदरा के पुलिस आयुक्त दीपक स्वरूप फोन काटते रहे। पुलिस कण्ट्रोल रूम से उन्हें यह जवाब मिला कि ''पाकिस्तान से मदद माँगों।'' कर्फ्यू के दौरान पुलिस द्वारा नाम पूछकर मुस्लिमों को गोली मार देने की एक से अधिक वारदातों का पता चला है।

> ''इन 'धर्मों' ने हिन्दुस्तान का बेड़ा गर्क कर दिया है। और अभी पता नहीं कि यह धार्मिक दंगे भारतवर्ष का पीछा कब छोड़ेंगे। इन दंगों ने संसार की नजरों में भारत को बदनाम कर दिया है। और हमने देखा है कि इस अन्धविश्वास के बहाव में सभी बह जाते हैं। कोई बिरला ही हिन्दू, मुसलमान या सिक्ख होता है जो अपना दिमाग ठण्डा रखता है, बाकी सबके सब अपने नामलेवा धर्म के रोब को कायम रखने के लिए डण्डे-लाठियाँ, तलवारें-छुरे हाथ में पकड़ लेते हैं और आपस में सर फोड़-फोड़ कर मर जाते हैं। बाकी बचे कुछ तो फाँसी चढ़ जाते हैं और कुछ जेलों में फेंक दिये जाते हैं।''
>
> – शहीदेआजम भगत सिंह ('साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज', जून 1928)

और ऐसा क्यों न हो? 2002 के नरसंहारों को नियोजित-संचालित करने वाले नरेन्द्र मोदी और उसके काबीना व अमले, उसके इशारों पर शर्मसार कर देने वाले जघन्यतम कुकृत्यों को अंजाम देने वाले भाजपा, विहिप और बजरंग दल के कार्यकर्ता और नेता तथा उनकी मदद में मुस्तैद गुजरात पुलिस और प्रशासन के अधकारी, सभी जब आज भी बेखौफ होकर खुला घूम रहे

हैं और उनके कहर से बच गये लोग इस तरह छुप-छुप कर जीने को मजबूर हैं, मानों वे ही असली अपराधी हों, तो ऐसा होना मुमकिन ही है। जब पूरे शहर में आग लगी हुई थी और लोग जिन्दा जलाये जा रहे थे तो वह पी.सी. पाण्डेय जो 2002 में अहमदाबाद का पुलिस आयुक्त था, आज पूरे गुजरात पुलिस का महानिदेशक है, हाथ पर हाथ धरे बैठ कर दंगाइयों को बढ़ावा दे रहा था। ऐसे में बुरी तरह साम्प्रदायिक रंग में रंगी गुजरात पुलिस और प्रशासन हो या मोदी के सरगनेदारी में भाजपा, विहिप या बजरंग दल के गुण्डे, अगर वे मनमानी करने पर उतारू हों तो इसमें आश्चर्य क्यों हो? आखिर अगले वर्ष विधान सभा का चुनाव होने जा रहा है। मोदी को एक बार फिर उसमें जीत हासिल करने के लिए प्रदेश को एक बार फिर दंगे की आग में झोंक देने से कामयाब नुस्खा और क्या हो सकता है?

ऐसे साम्प्रदायिक और संकीर्णतावादी कुकृत्यों की निन्दा करते समय हमें उसके लिए जिममेदार ताकतों की खुलेआम शिनाख्त करनी चाहिए। डोडा और श्रीनगर में हाल ही में हुए 37 लोगों का नरसंहार हो या फिर वाराणसी के विस्फोट या आये दिन मासूमों की हत्याओं के ऐसे ही दूसरे कुकृत्य हों, ये सभी कुछ एक बड़ी साजिश के हिस्से हैं। आज देश में हो रहे दहशतगर्दी और साम्प्रदायिकता से जुड़े वाकये चाहे जिस धर्म का नाम लेकर अंजाम दिये जा रहे हों, अपने बुनियादी मकसद में वे एक जैसे हैं। मुशर्रफ के आई.एस.आई. के एजेण्ट और उनके द्वारा प्रशिक्षित, वित्तपोषित और उन्ही के इशारों पर नाचने वाले दहशतगर्द हों या मोदी जैसों की अगुआई में काम करने वाली राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, भाजपा व बजरंग दल की दंगा ब्रिगेडें हों, वे सभी यही चाहते हैं कि देश को एक भयानक गृहयुद्ध की आग में धकेल दिया जाय। एक का मकसद किसी तरह से 1971 में पाकिस्तान की हार का बदला लेना है और इसके चलते वह कश्मीरी जनता के असन्तोष का फायदा उठाते हुए कश्मीर को हथिया लेना चाहता है तथा दूसरे का उद्देश्य मुसलमानों, कम्मुनिस्टों तथा सभी प्रगतिशील और समाज के अगुआ लोगों की हत्याएँ करवाकर दहशत पैदा करना तथा एक हिन्दू राष्ट्र का निर्माण करना है। दोनों ही जनता के दुश्मन हैं और उनसे जनता को सावधान रहना चाहिए।

□

समाचार-विचार

फ्रांस में श्रम कानूनों में बदलाव के खिलाफ व्यापक जन-प्रतिरोध

सिर्फ छह माह पहले नस्लभेद के शिकार और हाशिये पर डाल दिये गये फ्रांसीसी नौजवानों के आक्रोश से जल रहा फ्रांस अभी पूरी तरह सँभल भी नहीं पाया था कि सरकार द्वारा श्रम कानूनों में बदलाव के प्रस्ताव से पूरा फ्रांस एक बार फिर धधक उठा।

इस विदादित कानून 'नया रोजगार समझौता' में नियोक्ता को यह अधिकार मिलने वाला था कि वह 26 वर्ष से कम उम्र के किसी भी कर्मचारी को दो वर्ष के परीक्षण काल में बिना कोई कारण बताये निकाल बाहर कर सके। क्योंकि इस कानून का सीधा असर पढ़ाई पूरा कर रोजगार के लिए निकलने वाले छात्रों और पहले से ही रोजगार की तालाश कर रहे नौजवानों पर पड़ता अत: छात्रों-नौजवानों द्वारा उसका व्यापक विरोध होना लाजिमी था। इसका अधिक असर गरीब परिवार से आने वाले छात्रों-नौजवानों और खासकर, नस्ली भेदभाव के शिकार गैर-यूरोपीय मूल के फ्रांसीसी नौजवानों पर पड़ता जिनके लिए स्थायी रोजगार प्राप्त करना पहले से ही बहुत मुश्किल था। विगत करीब एक दशक से फ्रांस बेरोजगारी की ऊँची दरों से परेशान है। सक्रिय युवा आबादी में यह दर करीब 25 प्रतिशत है जबकि नस्ली उपेक्षा के शिकार अफ्रीकी मूल के फ्रांसीसियों के उपनगरों में यह दर 50 प्रतिशत तक पहुँच जाती है। यही समाज का वह हिस्सा है जिसे नये कानून का दंश सबसे अधिक झेलना पड़ता। सीधे तौर पर रोजगार चाहने वाले युवाओं पर असर डालने के बावजूद यह दरअसल मजदूर वर्ग और उसके रोजगार के स्थायित्व पर हमला था।

अत: केवल विश्वविद्यालयों के छात्र ही नहीं, बल्कि स्कूलों के छात्र, रेल, जहाजरानी और दूसरे परिवहनों के मजदूरों से लेकर डाकतार और बिजली जैसे विभागों के कर्मचारी, ट्रेड यूनियनें और इन सबके परिवार के लोग भी आन्दोलन में शामिल हो गये। दो माह से भी अधिक समय तक पूरे फ्रांस में धरनों, विशाल प्रदर्शनों और हड़तालों का सिलसिला जारी रहा और यह तभी रुका जब सरकार इस जनविरोधी कानून को वापस लेने पर मजबूर हो गयी। छात्रों-युवाओं द्वारा आरम्भ किये गये इस आन्दोलन को जिस तरह व्यापक मजदूर आबादी ने अपने कन्धों पर ले लिया और जिस तरह समाज के विभिन्न मेहनतकश तबके इसमें कन्ध ा से कन्धा मिला कर शामिल हुए वह अभूतपूर्व था। फ्रांसीसी समाज में जनवादी चेतना के ऊँचे स्तर को दर्शाता है।

सिर्फ फ्रांस ही नहीं, पूरे यूरोप के शासकों की आज यही कोशिश है कि श्रम कानूनों के माध्यम से मजदूरों को जो अधिकार मिले हुए हैं उनमें एकमुश्त कटौती कर दी जाय। लेकिन जनता के विरोध के कारण वे अपने मन्सूबे पूरे नहीं कर पा रहे हैं।

फ्रांस और दूसरे विकसित यूरोपीय देशों में आज अर्थव्यवस्था ठहरी हुई है, राष्ट्रीय कर्ज बढ़ता जा रहा है और रोजगार पैदा नहीं हो रहे हैं। आज दुनिया के पूँजीवाद के समाने पूँजी की प्रचुरता और निवेश का संकट पहले से कहीं अधिक भयावह

रूप से आ उपस्थित हुआ है। एक व्यवस्था के तौर पर यह पूँजीवाद की एक ऐसी बीमारी है जिसके लक्षणों को हर बार अधिक भयावह रूप से प्रकट होना ही है। पूँजीवाद को अपने मौत के साथ ही इससे निजात मिलने वाली है। इस बार समस्या इतनी गहरी है कि 1989-90 की घटनाओं और तथाकथित वैश्वीकरण की प्रक्रिया के तहत पूँजीनिवेश के जो नये अवसर सामने आये हैं वे भी इस समस्या को हल करने में पूरी तरह सक्षम नहीं हैं।

जब हम यह कहते हैं कि पूँजीवाद के सामने आज पूँजी की प्रचुरता और निवेश का संकट है तो इसका यह मतलब नहीं है कि दुनिया के पैमाने पर पूँजी के विस्तार की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयी हैं। लगभग पूरे अफ्रीका, लातिन अमरीका और यूरोप के पूर्वी हिस्से सहित दुनिया में पूँजीनिवेश और विकास की अभी बहुत अधिक सम्भावना शेष है। लेकिन यदि ऐसा नहीं हो पा रहा है तो साम्राज्यवाद की मौजूदगी के चलते। सम्राज्यवादी पूँजी जहाँ जाती है वहाँ उसका एकमात्र उद्देश्य कम से कम समय में अधिक से अधिक मुनाफा कमाना होता है। इस उद्देश्य से वह स्थानीय जनता और संसाधनों को पूरी तरह निचोड़ लेने के फिराक में रहती है। इसके अलावा अधिक मुनाफा बटोरने की कोशिश में पूँजी उत्पादक कार्रवाइयों में लगने की जगह शेयर बाजार की सट्टेबाजी और सेवा क्षेत्र में लगती है। यह एक तरह से नकली पूँजीनिवेश होता है जिसमें कोई भौतिक उत्पादन नहीं होता लेकिन तगड़ा मुनाफा कमाने की सम्भावना रहती है। इसलिए पूँजी की अधिकता के बावजूद सारी पूँजी उसी दिशा में भागती है जहाँ तेज और तगड़े मुनाफे की गारण्टी हो। बाकी इलाके पूँजी निवेश के लिए तरसते रहते हैं। पूँजी की प्रचुरता और निवेश का संकट सम्राज्यवाद के चरित्र में निहित है। जब तक साम्राज्यवाद रहेगा यह गहरा से गहरा होता जायेगा।

अपने संकटों से निजात पाने और अधिक से अधिक मुनाफे की हवस में फ्रांस और दूसरे देशों के पूँजीपति वर्ग अच्छी सेवा शर्तों और सभी सामाजिक अधिकारों सहित पूरे श्रम कानूनों को बदल देना चाहते हैं। इसतरह अपने संकटों को वे मेहनतकश जनता के सर पर डाल देना चाहते हैं। यह प्रक्रिया पूरे दुनिया के पैमाने पर चल रही है। फ्रांस में आज जनता के प्रबल प्रतिरोध के चलते उन्हें मुँहकी खानी पड़ रही है, लेकिन हम जानते है कि यह आखिरी कोशिश नहीं है। अलग-अलग देशों में श्रम कानूनों को बदलने की ऐसी अभी और कोशिशें होंगी। ऐसे हर हमले का विरोध भी होगा। लेकिन ये कटौतियाँ चूँकि एक ही प्रक्रिया के हिस्से हैं अत: अलग-अलग देशों में इनके खिलाफ आन्दोलनों के बीच जितना अधिक तालमेल और सहयोग होगा, इस प्रक्रिया का प्रतिकार उतना ही सार्थक होगा।

मुनाफे पर केन्द्रित व्यवस्था के अन्तर्गत बेरोजगारी का बने रहना अपरिहार्य है और इसका समाधान सम्भव नहीं है। पूँजीवाद के अन्तर्गत जैसे-जैसे पूँजी का संकेन्द्रण बढ़ता जाता है, पूँजीपति के कुल निवेश में मजदूरी पर खर्च का हिस्सा घटता जाता है। हर उन्नत तकनीक कुछ मजदूरों को फालतू बना देती है और इसतरह समाज में बेरोजगारों की एक स्थायी फौज बनी रहती है। यह इस व्यवस्था की एक बुनियादी पहचान है। फ्रांस में उत्पादक शक्तियों का जो स्तर है उसके आधार पर न केवल वहाँ के हर स्वस्थ नागरिक को रोजगार दिया जा सकता है वरन् यूरोप के एक बड़े हिस्से का भरण-पोषण भी किया जा सकता है। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब अधिक से अधिक मुनाफा कमाने का तर्क काम न कर रहा हो। पूँजीवाद के रहते यह सम्भव नहीं है। पूँजीवाद के नाश के साथ ही समाज के हर कार्यव्यापार के केन्द्र से मुनाफे के तर्क को हटाया जा सकता है और उसके स्थान पर श्रम की गरिमा को स्थापित कर ऐसे समता मूलक समाज की नींव रखी जा सकती है जो हर हाथ को काम दे सके।

मेहनतकशों के अधिकारों में कटौती के लिए पूँजीवादी व्यवस्था और मुनाफे पर टिका चरित्र जिम्मेदार है। अत: उसके हर छोटे-बड़े प्रतिरोध को भी इसी के खिलाफ केन्द्रित होना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था का समूचे नाश करके ही बेरोजगारी का पूर्ण उन्मूलन सम्भव है। □

समाचार-विचार

इंजीनियर सूर्यनारायण की मौत के लिए जिम्मेदार कौन?

अफगानिस्तान में भारतीय नगारिक और इंजीनियर सूर्यनारायण अफगानिस्तानियों के हाथों मारे गये। यह बहुत ही दुखद है। इसके पहले भी दो भारतीय वहाँ मारे जा चुके हैं।

भारतीय जनता पार्टी के शासन के दौरान जसवन्त सिंह एक हवाईजहाज में बन्धक बनाकर रखे गये भारतीयों को छुड़ाने के लिए भारतीय जेलों में बन्द आतंकवादियों को लेकर अफगानिस्तान गये थे। उस समय उन्होंने अफगानिस्तान के धूर्त और मक्कार तालिबानी विदेशमन्त्री की प्रशंसा की थी। वह हवाईजहाज भारत से गया ही कैसे? यह भी एक दुखद प्रसंग है। भारत में पढ़े-लिखे, शिक्षित-अर्द्धशिक्षित तथा उच्च तकनीकी शिक्षा प्राप्त बेरोजगार लोगों की भारी संख्या है। रोजगार के लिए नौकरी की तलाश में उन्हें विदेश जाना पड़ता है। आये दिन इन लोगों को अपमान और यन्त्रणा झेलनी पड़ती है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि आम तौर पर ये गरीब और आम घरों से आते हैं जिनके बारे में हमारे देश की सरकार सोचना छोड़ चुकी है।

अफगानिस्तान के लोगों से हमारे देश की जनता के गहरे सम्बन्ध रहे हैं। ये सम्बन्ध उससे भी पुराने हैं जब

महान दार्शनिक अफगानी बौद्ध दिग्नाग और वसुबन्धु नालन्दा के विश्वविद्यालय में पढ़ने-पढ़ाने का काम किया करते थे।

जब भारत सरकार ने '80 के दशक में अफगानिस्तान में रूसियों के हस्तक्षेप का परोक्ष और प्रत्यक्ष समर्थन किया तो अफगानों को यह बात बहुत बुरी लगी। भारत-अफगान सम्बन्धों में कड़वाहट की शुरुआत यहीं से शुरू होती है। इसके बहुत पहले भारतीय सिपाहियों को लेकर अंग्रेज जब अफगानियों को गुलाम बनाने गये थे तो उनमें से कोई भी वापस नहीं लौटा था। अफगान इन बातों को भूल चुके थे क्योंकि उनकी नफरत अंग्रेजों के खिलाफ थी।

11 सितम्बर की घटना के बाद अमरीका ने अफगानिस्तान को तबाह कर दिया और वहाँ की जनता को, जो रूसियों द्वारा पहले ही बर्बादी के कगार पर पहुँचा दी गयी थी, और बड़ी बर्बादी के गर्त में धकेल दिया। यह बात अफगानों को बुरी लगी । सारे अफगानी–बच्चे, औरतें, बूढ़े, सभी लादेन के हिमायती नहीं हैं और धर्मान्ध भी नहीं हैं। लेकिन वे धर्म-भीरु जरूर हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और रूसी साम्राज्यवादियों की तरह एक दिन अमरीकियों को भी अफगानी जनता खदेड़कर बाहर कर देगी। साम्राज्यवादी देश किसी देश को हजार बार तबाह कर सकते हैं लेकिन जब तक एक भी बच्चा जिन्दा है वे उस पर अन्तिम तौर पर कब्जा नहीं कर सकते। आज की दुनिया का यही यथार्थ है।

काबुल में वहाँ का कठपुतली राष्ट्रपति करजई नाटो और अमरीकी सेनाओं के घेरे में कैदी की तरह जीता है। पूरे काबुल पर भी उसका अधिकार नहीं है। **अमरीकी नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह अपनी सेनाओं के बल पर काबुल पर अधिकार जमाये रख सकता है, यह उसके रणनीतिक हितों के लिए जरूरी है। लेकिन अपने लोगों को अफगानिस्तान भेजकर मौत के घाट उतरवाने में भारत का क्या हित है?**

अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा अमरीका की फौजें करती हैं, उन्हें पिस्तौल रखने का भी अधिकार है। तत्कालीन भारतीय सरकार चाहती थी कि अपनी फौजें भेजकर अमरीकी हितों की सेवा करे लेकिन अमरीका ने अपने साम्राज्यवादी हितों को ध्यान में रखते हुए ऐसा करने से मना कर दिया। रणनीतिक तौर पर पाकिस्तान आज भी अमरीका के लिए ज्यादा महत्व रखता है और वह किसी भी कीमत पर पाकिस्तान को नाराज नहीं कर सकता। जिस अमरीका के हितों और कठपुतली करजई के लिए **हमारे देश के नौजवान मारे जा रहे हैं उन्होंने ही उनको पिस्तौल तक रखने से मना कर दिया है। जबकि वहाँ हर अमरीकी पिस्तौल रखता है।** यह भी अमरीकी हितों के अनुरूप है। ऐसे में भला हमारे देश को क्या पड़ी है कि हमारे लोग वहाँ जाकर जान दें।

अमरीका के बल पर अपनी समस्याओं को हल करने का और अमरीका के अधीनस्थ अपने पड़ोसी देशों की राजनीति और कूटनीति में हस्तक्षेप करने का यही हश्र हो सकता है–**अमरीकी सुरक्षित रहेंगे और भारतीय मारे जायेंगे।** अमरीका की पूँछ पकड़कर महाशक्ति हो जाने का ख्वाब पाले हुए हमारे हुक्मरान आखिर कितने भारतीयों को बलि का बकरा बनायेंगे?

इसलिए हर भारतीय नागरिक का कर्तव्य है कि वह अमरीकी साम्राज्यवाद के हितों के लिए किसी भी देश में किसी भी भारतीय को भेजने से भारत सरकार को रोके और उसका कोई समर्थन न करें। अगर भारत सरकार अपनी पूँजी बढ़ाने और अपने महाशक्ति बनने के शेखचिल्लीपने के लिए ऐसा करती है तो उसका प्रबल जनविरोध संगठित किया जाय ताकि अब एक भी भारतीय अमरीका के हितों के लिए न मरे। □

पूर्व सी.आई.ए. विश्लेषक ने कहा– ''अमरीकी नीति लादेन की सहयोगी है।''

ओसामा बिन लादेन की खोज करने वाले सी.आई.ए. दस्ते के पूर्व प्रमुख ने कहा कि मध्यपूर्व के बारे में अमरीकी नीति ने अलकायदा और इसके नेतृतव को बढ़ावा दिया है। सी.आई.ए. के उक्त टोही दस्ते को 1996 से 1999 तक नेतृत्व देने वाले माइकल श्यूअर ने कहा, ''आज बिन लादेन, अलकायदा और उसकी मदद करने वालों का एक ही अपरिहार्य सहयोगी है– इस्लामी देशों के बारे में अमरीका की विदेश-नीति।''

वाशिगंटन में आयोजित सरकारी सुरक्षा सम्मेलन में श्यूअर ने कहा, ''वक्त अमरीका का साथ नहीं दे रहा है। हम साफ तौर पर हार रहे हैं।'' सी.आई.ए. के पूर्व विश्लेषक ने कहा, ''हम एक ऐसे मोड़ पर खड़े हैं जहाँ अलकायदा और बिन लादेन एक संगठन और व्यक्ति की जगह अलकायदावाद और बिन लादेनवाद के दर्शन और आन्दोलन में तब्दील हो रहे हैं।''

''अमरीका का इराक पर हमला और लम्बे समय तक उस पर कब्जा जमाना, इस बदलाव को जन्म देने वाला सबसे बड़ा कारक है।'' श्यूअर ने कहा, ''इस्लामी दुनिया के प्रति अमरीका-नीति, जैसे कि इराक और अफगानिस्तान में अमरीकी सेना की उपस्थिति, इजराइल को अमरीका द्वारा दी जाने वाली आर्थिक और सैनिक सहायता तथा इस्लामी दुनिया में हर जगह जनविरोधी और जालिम सरकारों को दशकों से दी जाने वाली अमरीकी सहायता की ओर बिन लादेन ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया और उसे मुद्दा बनाया।'' (टाइम्स ऑफ इण्डिया, 27 अप्रैल 2006)

भारतीय अर्थव्यवस्था में अमरीकी थैलीशाहों का सीधा हस्तक्षेप

बुश की भारत-यात्रा के समय मार्च 2006 में अमरीका और भारत द्वारा जारी संयुक्त वक्तव्य में रणनीतिक साझेदारी और नाभिकीय समझौते के साथ-साथ उसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा आर्थिक समझौतों से सम्बन्धित था। इसका निचोड़ था–अमरीकी पूँजीपतियों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह खोलना। चूँकि संयुक्त वक्तव्य कूटनीतिक और छलावा भरी भाषा में लिपिबद्ध किया जाता है और उस पर काफी मुलम्मा चढ़ाया जाता है इसलिए आम जनता की समझ से परे होता है। उसका सही अर्थ तभी समझ में आता है जब उसे लागू किया जाता है। सरकारी और पूँजी-परस्त मीडिया भी इन असुविधाजनक मुद्दो को खोल कर समझाने में कोई खास रुचि नहीं लेती। इसलिए प्रस्तुत है बुश यात्रा के दौरान हुए आर्थिक समझौतों की एक संक्षिप्त तस्वीर।

बुश के साथ अमरीकी पूँजीपतियों की मण्डली भी भारत दौरे पर आयी हुई थी, जिसने 'अमरीका-भारत मुख्य कार्यकारी अधिकारी फोरम' की ओर से भारत सरकार को एक माँग-पत्र दिया। यह फोरम जुलाई 2005 में मनमोहन सिंह की अमरीका यात्रा के समय अस्तित्व में आया था, जिसमें 10 अमरीकी और 10 भारतीय पूँजीपति शामिल हैं। अमरीकी पूँजीपतियों में 4 वित्त क्षेत्र से, 2 कृषि क्षेत्र से, 1 प्रकाशन क्षेत्र से व 3 अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। भारतीय नुमाइन्दों में रतन टाटा और मुकेश अम्बानी के अलावा आई.टी.सी., इन्फोसिस, अपोलो हास्पिटल आदि कम्पनियों से सम्बन्धित उद्योगपति हैं। जे.पी. मॉर्गन चेज के मालिक अमरीकियों की ओर से फोरम के प्रमुख हैं, जबकि टाटा भारतीयों की ओर से।

अमरीकी पूँजीपतियों की हैसियत का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जे.पी. मॉर्गन चेज की कुल परिसम्पत्ति 1,200 अरब डालर (54 लाख 12 हजार करोड़ रुपये) है, जबकि टाटा की कुल आय (2004-05) 18 अरब डालर (81,180 करोड़ रुपये) है। यानी जे.पी. मॉर्गन चेज की औकात टाटा से 67 गुनी, भारत की बजट से 10 गुनी तथा इसके सकल घरेलू उत्पाद से डेढ़ गुनी है।

पूँजीपतियों के फोरम ने सरकार को जो माँग-पत्र दिया उसमें उद्योग, कृषि और सेवा क्षेत्र के साथ-साथ पेटेण्ट कानून और श्रम कानून से सम्बन्धित माँगे भी शामिल की गयी हैं। सरकार इन्हें लागू भी करने लगी है।

जिन माँगों को लागू करने में सरकार इतनी मुस्तैदी दिखा रही है, वे इस प्रकार हैं।

- सड़क, बिजली, पानी, बन्दरगाह जैसे संरचनागत निर्माण के लिए अमरीकी कर्ज और पूँजी से 5 अरब डालर का कोष बनाया जाये। अमरीकी पूँजीपति इसी कोष की सहायता से भारत के संरचनागत क्षेत्र में पूँजी लागायेंगे। ठेका देने के लिए कम्पनी का चुनाव और कामों की निगरानी भारत सरकार नहीं बल्कि विश्व बैंक जैसी संस्था करे।
- भवन-निर्माण के क्षेत्र में विदेशी पूँजी के लिए रास्ता साफ किया जाये।
- विद्युत क्षेत्र में पहले से चले आ रहे विवादों, जैसे एनरॉन, का निपटारा करने के लिए कार्यदल बनाया जाये।
- सरकार पेट्रोलियम की कीमतें तय करने में दखल देना बन्द करे और इसे बाजार पर छोड़ दे। साथ ही वह नियमन सम्बन्धी ''स्वतन्त्र'' थिंक टैंक बनाये और एक नियामक संस्था बनाकर पेट्रोलियम सम्बन्धी सारे कार्यभार उसे सौंप दे।
- बीमा क्षेत्र में विदेशी पूँजीनिवेश की रफ्तार तेज की जाये। भारतीय बैंकों में अमरीकी पैठ बढ़ायी जाये तथा निजी बैंकों पर विदेशी मालिकाने की अनुमति 2009 से पहले ही दी जाये।
- विदेशी पूँजीनिवेशकों को पेंशन और बीमा के लाभों को नियन्त्रित करने की आजादी दी जाये। इसके अतिरिक्त सेवा क्षेत्र के अन्य विभागों में भी विदेशी पूँजी लगाने और उस पर नियन्त्रण कायम करने की आजादी दी जाये।
- कृषि और मैन्युफैक्चरिंग में दी जाने वाली सरकारी सहायता समाप्त की जाये, खाद्य प्रसंस्करण में विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दी जाये और कृषि उत्पादों को एक से दूसरे स्थान पर ले जाने पर लगा प्रतिबन्ध हटा लिया जाये।
- विदेशों से आयात किये गये सामानों पर से बचा-खुचा सीमा शुल्क और अन्य रुकावटें भी हटा ली जायें।
- खुदरा व्यापार में विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दी जाये।
- विवादों को तेजी से निपटाने के लिए न्याय-व्यवस्था में सुधार किया जाये। इसके लिए कार्यदल गठित किया जाये, जिसमें पूँजीपतियों के प्रतिनिधि भी हों। मजदूरों को सुरक्षा प्रदान करने वाले कानून समाप्त कर दिये जायें और ऐसे विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाये जायें, जहाँ कोई श्रम कानून न लागू होते हों।
- पेटेण्ट कानून को कठोरता से लागू किया जाये और इसके

लिए केन्द्रीय संस्था बनायी जाये। पेटेण्ट सम्बन्धी मामलों का निपटारा विशेष अदालतें करें।

- मीडिया क्षेत्र, जैसे टेलीविजन, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं, ई-कामर्स आदि में विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दी जाये।
- भारत विश्व व्यापार संगठन के दोहा-चक्र में अमरीका का सहयोगी बने।

ऐसा माँग-पत्र पेश किया जाना कोई नयी घटना नहीं है। नयी बात यह है कि योजना आयोग ने इसे हाथो-हाथ लिया और इसे अमली जामा पहनाने के लिए मुस्तैद हो गया। इस माँग-पत्र को योजना आयोग के वेबसाइट पर डाल दिया गया। आयोग ने आनन-फानन में 24 अलग-अलग कमेटियों का गठन किया और उन्हें निर्देश दिया कि वे अपनी रिपोर्टे जल्दी से जल्दी पेश करें। जाहिर है कि इन कमेटियों का मकसद पूँजीपतियों की इन माँगों में बिना कोई हेर-फेर किये, उन्हें सरकारी दस्तावेज और ठोस कार्यक्रम की भाषा में रूपान्तरित करके प्रस्तुत करना है।

कमेटियों से पूँजीपतियों की क्या अपेक्षा है और वे उन्हें कितना महत्व देते हैं, यह डॉ. प्रणव सेन पैनल पर उनकी प्रतिक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। योजना आयोग के मुख्य सलाहकार डॉ. प्रणव सेन की अगुवाई में सितम्बर 2005 में इस पैनल ने जीवन रक्षक दवाओं को उचित मूल्य पर लोगों तक पहुँचाने से सम्बन्धित अपने सुझाव सरकार को दिया। इस रिपोर्ट में दवाओं की कीमतें तय करने का काम बाजार पर न छोड़े जाने और सस्ते दामों पर वैकल्पिक जेनेरिक दवाएँ बनाये जाने की अनुमति देने की बात है। साथ ही इस रिपोर्ट में जरूरी दवाओं की सूची बनाने और उनकी कीमतों पर सरकारी नियन्त्रण कायम करने का भी सुझाव है। पूँजीपतियों के उक्त फोरम ने ऐसी रिपोर्ट पेश किये जाने पर चिन्ता व्यक्त की है और इसके पुनरीक्षण की माँग की है। पुनरीक्षण का एक ही मकसद है–उस रिपोर्ट को उलट देना। इस माध्यम से पूँजीपतियों ने भविष्य के लिए एक चेतावनी भी दे दी है कि नवगठित कमेटियों को क्या करना है।

दोनों देशों के पूँजीपतियों को यह पता है कि नाभिकीय समझौते के गर्भ में एक ऐसा खजाना छिपा हुआ है जो उनके मुनाफे की हवस हो लम्बे समय तक पूरा करता रहेगा। बुश के आने के एक दिन पहले 'भारतीय उद्योग परिसंघ' के पूर्व अध्यक्ष ने कहा कि ''जब नाभिकीय समझौता हो जायेगा तो हर चीज अपने सही ठिकाने पर आ जायेगी।'' हुआ भी ऐसा ही। जश्न का खुमार अभी उतरा भी नहीं था कि एअर इण्डिया ने अमरीकी विमान-निर्माता कम्पनी बोइंग से 68 विमान खरीदने का करार कर लिया, जिसके बारे में योजना आयोग के उपाध्यक्ष ने कहा–''यह तो एक बनागी है।...कोई सन्देह नहीं कि इस साझेदारी को राष्ट्रपति बुश ने काफी प्रोत्साहन दिया है।''

पूँजीपतियों की माँगों पर तेजी से कार्रवाई हो रही है। अमरीकी कम्पनी वाल-मार्ट जल्दी ही भारत के खुदरा व्यापार के क्षेत्र में उतरने जा रही है। पहले से चले आ रहे एनरॉन मामले का ''निपटारा'' किया जा चुका है। पारादीप, हल्दिया, विशाखापत्तनम्, दाहेज, मंगलोर, नवी मुम्बई-रत्नागिरि, पानीपत (कुण्डली) में कर-मुक्त विशेष निवेश क्षेत्र बनाने की दिशा में कदम उठाये जा चुके हैं। उत्तर प्रदेश में विशेष आर्थिक क्षेत्र के भीतर जमीन खरीदने पर स्टाम्प ड्यूटी में शत्-प्रतिशत छूट देने की घोषणा की गयी है। अमृतसर में एक हजार एकड़ में 454 करोड़ रुपये की लागत से विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाना प्रारम्भ हो चुका है।

विश्व व्यापार संगठन में ऐसे बहुत से मामले हैं जिन पर अभी आम सहमति नहीं बन पायी है। बहस चलाकर आम सहमति बनाने में विवाद होना और साथ ही देश के सत्ताधारियों पर साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेकने का आरोप लगना लाजिमी है। इसलिए द्विपक्षी निवेश सन्धियों द्वारा गुप-चुप तरीके से पूँजीनिवेश और अन्य आर्थिक समझौते करने का रिवाज हमारे देश में ही नहीं बल्कि अन्य देशों में भी तेजी से बढ़ रहा है। बुश-यात्रा के दौरान भी यही हुआ ।

साम्राज्यवादी देशों का प्रतिरोध करते हुए विश्व व्यापार संगठन की हांगकांग-II बैठक में तीसरी दुनिया के देशों का G-110 नामक एक समूह उभर रहा था। वहाँ भारत द्वारा अमरीका का ''सहयोग'' किये जाने से तीसरी दुनिया का प्रतिरोध कमजोर हो गया और G-110 को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इससे तीसरी दुनिया के देशों की नजर में भारत की साख गिरी और इसे अलगाव भी झेलना पड़ा।

ये घटनाएँ वर्ग-शत्रु-सहयोग के अनूठे उदाहरण हैं।

नाभिकीय समझौता, रणनीतिक साझेदारी और ''सहयोग'' की कीमत के रूप में देश की अर्थव्यवस्था को अमरीकी पूँजीपतियों के स्वार्थों के अनुरूप ढाला जा रहा है। कृषि, खुदरा व्यापार, बीमा और बैंक सहित जिन क्षेत्रों में विदेशी पूँजी के घुसपैठ के खिलाफ-देश भर में विरोध चल रहा हो उन पर गुप-चुप तरीके से रातो-रात समझौता करना और उन पर अमल करना योजना आयोग पर बढ़ते साम्राज्यवादी वर्चस्व

का सूचक है। □

समाचार-विचार

मजदूर वर्ग पर हमला जारी

संवैधानिक या श्रम कानूनों में बदलाव किये बिना ही किस तरह हमारे देश में पूँजीपतियों और प्रबन्धकों के हाथों में मजदूरों के खिलाफ नये-नये हथियार दिये जा रहे हैं, इसके बारे में हमने 'देश-विदेश', अंक-1, मार्च 2006 में एक विश्लेषण दिया था। उसी क्रम में यहाँ कुछ और महत्वपूर्ण फैसलों की खबरें प्रस्तुत की जा रही हैं, जो पिछले 3 महीनों में आये हैं।

- अनुबन्ध पर ड्रग इंस्पेक्टर के पद पर 5 सालों से कार्यरत गिरीश चन्द्र बघेला को इसलिए स्थायी नियुक्ति देने से इन्कार कर दिया गया कि वे पद पर भर्ती के लिए आवश्यक आयु सीमा को पार कर चुके हैं। इस केस में हाईकोर्ट ने उम्र में दो साल की छूट देकर उनकी स्थायी नियुक्ति का फैसला सुनाया था जिसे पलटते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ठेके पर 5 साल से काम करने के बावजूद **उन्हें सरकारी कर्मचारी नहीं माना जा सकता इसलिए उन पर इस कोर्ट का कोई कानून लागू नहीं होता। निजी क्षेत्र की बात दीगर है, वह किसी को किसी तरह से बहाल करने के लिए आजाद है। औद्योगिक विवाद कानून के दायरे में आने वाले सिर्फ थोड़े से लोगों को छोड़कर बाकी कोई भी निजी क्षेत्र का कर्मचारी कानूनी सुरक्षा के दायरे में नहीं आता।** (टाइम्स ऑफ इण्डिया, 6 फरवरी 2006)
- राजस्थान आवास विकास संस्थान को भंग करके उसमें कार्यरत 600 से ज्यादा कर्मचारियों को दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर करने के सरकार के निर्णय के विरोध में हाईकोर्ट के निर्णय के उलट फैसला सुनाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि **''सरकार के पास किसी भी पद को समाप्त करने का अधिकार है। इसके लिए खत्म किये गये पद पर तैनात कर्मचारी को दोबारा रोजगार दिया जाना जरूरी नहीं है। राज्य सरकार अपनी आर्थिक और प्रशासनिक जरूरतों के अनुसार नागरिक सेवा के स्टाफ पैटर्न में बदलाव कर सकती है, पदों की संख्या में बढ़ोत्तरी कर सकती है या पदों को खत्म कर सकती है।''**(अमर उजाला 29 मार्च 2006)
- पंजाब राज्य औद्योगिक विकास निगम (PSIDC) की 46% हिस्सेदारी वाली कम्पनी पंजाब उर्वरक एवं रसायन लिमिटेड (PNFL) को जुलाई 2001 में बीमार घोषित किया गया था। अपने वेतन की माँग को लेकर कर्मचारियों द्वारा दायर याचिका पर पंजाब हाईकोर्ट द्वारा दिये गये फैसले को उलटते हुए सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया कि **PSIDC और PNFL दोनों अलग-अलग और स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं इसलिए एक की देनदारी के लिए दूसरे को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। किसी बीमार संयन्त्र के बन्द होने पर कर्मचारियों को वेतन देने के लिए राज्य सरकार जिम्मेदार नहीं है तथा ऐसे कर्मचारी या मजदूर किसी दावे के अधिकारी नहीं हैं। यह राज्य सरकार के विवेक पर निर्भर है कि वह उनसे सहानुभूति रखते हुए उन्हें कुछ दे या न दे।** (द ट्रिब्यून, 6 अप्रैल 2006)
- विभिन्न सरकारी विभागों में 10 साल तक लगातार सेवा में रहे दिहाड़ी मजदूरों-कर्मचारियों को स्थायी करने के कर्नाटक हाईकोर्ट के 1999 के आदेश के खिलाफ कर्नाटक राज्य की याचिका पर निर्णय सुनाते हुए सुप्रीम कोर्ट की 5 सदस्यीय खण्डपीठ ने कहा कि **मजदूर नियमित होने की माँग के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि ये नियुक्तियाँ भर्ती नियमावली के बाहर की हैं।** (द ट्रिब्यून, 11 अप्रैल 2006)

सुप्रीम कोर्ट के उक्त फैसलों से स्पष्ट है कि व्यवहार में न सिर्फ निजी क्षेत्र को बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्धकों को भी 'हायर एण्ड फायर' (जब चाहे रखो, जब चाहे निकार बाहर करो) के अधिकार दिये जा रहे हैं। विदेशी या देशी कम्पनियों की हिस्सेदारी वाली सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों में अगर सरकारी हिस्सेदारी 50% से कम है तो सरकार की वेतन देने की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी। नौकरी से निकाले गये या फैक्ट्री बन्द होने से सड़क पर आ जाने वाले कर्मचारियों की सुरक्षा और उनके रोजगार की व्यवस्था करने की भी सरकार की अब कोई जिम्मेदारी नहीं होगी। सुप्रीम कोर्ट के फैसल से यह भी जाहिर होता है कि निजी क्षेत्र आजाद है कि वह अपने कर्मचारियों से जो चाहे सुलूक करे।

□

समाचार-विचार

फिलिस्तीन में हमास की जीत

इस वर्ष के प्रारम्भ में फिलिस्तीनी प्राधिकरण के लिए हुए चुनावों को विश्वस्तर पर मुक्त और निष्पक्ष चुनाव के रूप में मान्यता दी गयी। इसे जनतन्त्र के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण और अरब जगत के लिए एक अनूठी घटना बताया गया। इस चुनाव में हमास की जीत हुई और फिलिस्तीनी

मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) की हार।

ओसलो समझौते के बाद से ही पी.एल.ओ. के प्रति जनता में गहरा असन्तोष व्याप्त था। इस समझौते के साथ ही उसने इजरायल, अमरीका तथा पश्चिमी देशों के साथ समझौते का रुख अख्तियार करते हुए मुक्ति संघर्ष को त्याग देने का मन बना लिया था। यासिर आराफात की मृत्यु के बाद पी.एल.ओ. के अध्यक्ष महमूद अब्बास ने प्रतिरोध संघर्ष को पूरी तरह त्याग कर समर्पण की नीति अपना ली। आज फिलिस्तीन में वह अमरीका और इजरायल के पसन्दीदा आदमी के बतौर राष्ट्रपति की गद्दी पर बैठा हुआ है। पश्चिमी देशों से मिलने वाले अनुदानों ने भी इस संगठन को भ्रष्ट बनाया और धीरे- धीरे जनता में इसकी साख खत्म होती गयी। जबकि हमास निष्ठा, ईमानदारी और पूरे जोशो-खरोश के साथ फिलिस्तीन की आजादी के लिए संघर्षरत है। जनता ने समर्पण की जगह संघर्ष के पक्ष में मत दिया। पी.एल.ओ. की करारी हार हुई और हमास की शानदार जीत।

हमास की जीत होने पर इजरायल, अमरीका एवं यूरोपीय संघ एक स्वर से चिल्ला उठे कि वे हमास के नेतृतव में गठित सरकार को मान्यता नहीं देंगे। इनकी इस चीख-चिल्लाहट से स्पष्ट हो गया कि ऐसे चुनावों को वे लोकतान्त्रिक नहीं मानते जिनमें उनके पिछलग्गुओं और कठपुतलियों की जीत नहीं होती है। इनकी लोकतन्त्र और मानवाधिकार की दुहाई महज पाखण्ड है। वे झूठ, फरेब, ध ोखाधड़ी और बन्दूक की नोक पर करवाये गये इराक और अफगानिस्तान के चुनावों को ''लोकतान्त्रिक'' मानते हैं क्योंकि इस ''लोकतन्त्र'' से वहाँ अमरीका का प्रभुत्व कायम होता है और उनके थैलीशाहों का स्वार्थ सिद्ध होता है। जब चुनाव के नतीजे इनके स्वार्थ के अनुरूप नहीं होते तब वे लोकतन्त्र का गला घोंट देने के लिए घृणित से घृणित प्रयास करने से भी बाज नहीं आते। हमास की जीत पूरी तरह लोकतान्त्रिक है और इसे मान्यता मिलनी ही चाहिए। लेकिन समझौता-परस्त और आत्मसमर्पणवादी राष्ट्रपति अब्बास इजरायल की शह पर हमास की नवगठित सरकार को निरस्त करने की धमकी दे रहा है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि वह ऐसा कर सकता है। इसकी भूमिका भी तैयार की जाने लगी है। इजरायल ने यह खबर प्रकाशित की है कि हमास राष्ट्रपति अब्बास की हत्या कर सकता है। उध र अब्बास अपने लिए अलग से सुरक्षाबल बनाने की योजना बना रहा है। इससे अब्बास और इजरायल की मिलीभगत का साफ-साफ पता चलता है। सुरक्षाबल हमास के खिलाफ दमनात्मक कार्रवाई करने में उनकी मदद करेगा। पी.एल.ओ. पश्चिमी देशों के रहमोकरम पर निर्भर है लेकिन हमास जनता की मुक्ति की प्रबल आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करते हुए फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष को जारी रखे हुए है।

आज पश्चिमी देशों के द्वारा जहाँ एक ओर हमास को अछूत घोषित कर दिया गया है और फिलिस्तीनी प्रधिकरण को दिवालिया तथा फिलिस्तीनी जनता को अकिंचन बना देने की कोशिश की जा रही है, वहीं दूसरी ओर, इजरायल द्वारा अन्तरराष्ट्रीय कानूनों तथा मानव-गरिमा का सतत् उल्लंघन जारी है। गैरकानूनी बस्तियों और दीवार का निर्माण करके इजरायल 1967 के सैनिक हमले के द्वारा जीते गये इलाके और संसाधनों पर अपने कब्जे को स्थायी बनाने की जघन्य और धूर्ततापूर्ण कोशिशें कर रहा है। इजरायल फिलिस्तीन पर ऐसा दबदबा कायम करने की फिराक में है जिसे चुनौती न दी जा सके। उसकी यह कोशिश नाकाबन्दी करने, रास्ता बन्द करने, चुन-चुन कर हत्या करने, आम गिरफ्तारियों और बारम्बार सैन्य दखलन्दाजियों के जरिए फिलिस्तीनी जनता की घेराबन्दी करने और उसे पराधीन बनाने की कार्रवाइयों में स्पष्ट दिखायी देती है। सिर्फ अप्रैल के पहले तीन सप्ताहों में इजरायली सैनिकों ने 35 से ज्यादा फिलिस्तीनियों को मार डाला, जिसमें कम से कम सात बच्चे थे। इसके अलावा 150 लोग घायल हुए। गाजापट्टी में प्रतिदिन 200 गोले दागे जाते रहे जो नागरिक आबादी के विरुद्ध निरन्तर जारी एक हिंसात्मक कार्रवाई है।

फिलिस्तीनी प्रधिकरण के कुल संसाधनों का आधा भाग करों से होने वाली आय है। पिछले साल इजरायल करों की वूसली में बाधा पहुँचाता रहा। यह फिलिस्तीनी जनता को भूख से तड़पाकर समर्पण करने को मजबूर करने की इजरायली नीति का अंग है। इसतरह, फिलिस्तीनियों पर एक 'अन्तिम बन्दोबस्त' को एकतरफा थोपने की जमीन तैयार की जा रही है, जो फिलिस्तीनी राज्य की गुंजाइश हमेशा के लिए समाप्त कर देगा।

इजरायल की इन नीतियों को अमरीका और यूरोपीय संघ का पूरा समर्थन है। यह जगजाहिर है कि अरब जगत पर अमरीकी साम्राज्यवाद का प्रभुत्व कायम करने वाली नीतियों, इराक युद्ध और ईरान को दी जा रही युद्ध की धमकियों का समर्थन करने वाला उसका सबसे विश्वस्त देश इजरायल ही है। दोनों का एक ही मकसद है--अपने-अपने प्रभुत्व को स्थायित्व प्रदान करना। इस नापाक मकसद के लिए फिलिस्तीन, इराक और अफगानिस्तान में लोगों की निर्मम हत्याएँ की जा रही हैं। जनतन्त्र का नाम लेने वाला वर्चस्ववादी अमरीका और उसके सभी सहयोगी वास्तव में जनतन्त्र के हत्यारे हैं।

फिलिस्तीन में जारी इस ऐतिहासिक अपराध में परोक्ष रूप से शामिल भारतीय शासकों के बारे में चन्द शब्द कहना जरूरी है। भारतीय जनता ने फिलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का सदैव समर्थन किया है और गुट निरपेक्ष आन्दोलन

के दौर में भारत सरकार भी उसका समर्थन करती रही है। 1992 में भारत और इजरायल के बीच कूटनीतिक सम्बन्धों की पूर्ण बहाली कर दी गयी। तब से भारत की सेना, खुफियातन्त्र तथा आर्थिक क्षेत्र में इजरायल के साथ साँठ-गाँठ तेजी से बढ़ी है। इजरायल, भारत को सैन्य सामग्री की आपूर्ति करने वाला दूसरा सबसे बड़ा देश और एशिया में भारत का दूसरा सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है। भारत-इजरायल के बीच इस गठजोड़ को और पुख्ता बनाने के लिए मन्त्रिस्तरीय यात्राओं और हथियारों की खरीददारी का सिलसिला जारी है।

भारत सरकार दलील देती है कि यह ''गहरा सम्बन्ध'' ''आतंकवाद के विरुद्ध साझा युद्ध'' के लिए कायम किया गया है। जबकि इजरायल फिलिस्तीनी जनता के विरुद्ध रोज ही ऐसे कुकृत्य करता है जिसे आतंकवाद के लिए गढ़े गये किसी भी परिभाषा में आंतकवाद ही कहा जायेगा।

आज फिलिस्तीनी जनता से नाता तोड़ लेना हमारे देश के चन्द मुनाफाखोर अभिजातों के हित में है, जिसे सरकार राष्ट्रहित की संज्ञा देती है। लेकिन यह भारत की विशाल बहुसंख्या के हित में कतई नहीं है। वह फिलिस्तीन की जनता के संघर्ष के साथ है। □

समाचार-विचार

उग्र परिवर्तनों से गुजरता वेनेजुएला

वेनेजुएला उग्र परिवर्तनों के दौरे से गुजर रहा है। राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज के नेतृत्व में यहाँ की गरीब जनता अपनी आजादी और सम्प्रभुता की हिफाजत करने के लिए अर्थव्यवस्था के साथ-साथ सामरिक क्षेत्र में भी मजबूती से कदम बढ़ा रही है और अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए नयी-नयी मुश्किलें पेश करती जा रही है। शावेज सरकार ने देश के सर्वाधिक तेल-सम्पन्न पूर्वी क्षेत्र में कार्यरत कम्पनियों द्वारा सरकार को चुकायी जाने वाली रॉयल्टी में तो पहले ही पर्याप्त वृद्धि कर दी थी। बाद में जब उसने देश की पेट्रोलियम सम्पदा में सरकारी हिस्सेदारी बढ़ाने की घोषणा की तो तेल पर पहले से कुण्डली मार कर बैठी दुनिया की बड़ी तेल कम्पनियों को सकते में डाल दिया। इस घोषणा का पालन करने के लिए विदेशी स्वामित्व वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को 31 मार्च तक का समय दिया गया था। इस फैसले के लागू होने पर वहाँ के 32 छोटे तेल कुँओं में राज्य की हिस्सेदारी 60 प्रतिशत हो जाती। शेवरॉन और रॉयल डच शेल जैसी कई दैत्याकार कम्पनियाँ इस समय-सीमा के अन्तर्गत नये कानून का पालन करने के लिए बाध्य हुईं। दो कम्पनियों–फ्रांस की टोटल और इटली की एनी ने इस निर्णय का पालन नहीं किया तो शावेज सरकार ने तत्काल उनकी देख-रेख में चल रहे तेल कुँओं को अपने नियन्त्रण में ले लिया। सरकार के इस निर्णायक कदम से बेनेजुएला में एक नये दौर की शुरुआत हो गयी है। पहले छोटे कुँओं से तेल निकासी के लिए वेनेजुएला सरकार विदेशी कम्पनियों को उत्पादन शुल्क के रूप में भारी रकम चुकाया करती थी क्योंकि इन छोटे कुँओं से देश के कुल तेल के पाँचवे हिस्से का उत्पादन होता है।

वेनेजुएला तेल-उपभोक्ता देशों के साथ लम्बी अवधि का समझौता करने की कोशिश कर रहा है जिसके तहत वह उन्हें 50 डॉलर प्रति बैरल की दर से तेल की आपूर्ति करेगा, जो वर्तमान कीमत से काफी कम है। यह समझौता इसलिए जरूरी है क्योंकि वेनेजुएला के पास ज्यादा भारी कच्चे तेल का बड़ा भण्डार है। पहले इस तेल को हल्के कच्चे तेल में बदला जाता है इसके बाद शोधन करके इसे उपभोग में लाया जा सकता है। इस प्रक्रिया में काफी पैसा खर्च होता है। अगर लम्बी अवधि के लिए समझौता किया जाय तो 50 डॉलर प्रति बैरल की दर से तेल आपूर्ति करना देश के लिए आर्थिक रूप से टिकाऊ और फायदेमन्द सौदा होगा। दूसरी

बोलीविया में तेल और गैस क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण

1 मई 2006 को बोलीविया के राष्ट्रपति इवो मोरालेस ने देश के तेल और प्राकृतिक गैस के भण्डारों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और उसके आदेश पर सेना ने देश के तमाम ऊर्जा क्षेत्रों को अपने अधिकार में ले लिया। मोरालेस ने विदेशी उत्पादकों को आदेश दिया है कि वे सभी तेल क्षेत्रों पर से अपना नियन्त्रण हटा लें और भविष्य में तेल और प्राकृतिक गैस की कोई भी बिक्री सार्वजनिक ऊर्जा कम्पनी के जरिये ही करें। कम्पनियों को आदेश दिया गया है कि या तो वे अगले तीन माह के भतीर मौजूदा करारों के स्थान पर नये करार करें या अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर देश से बाहर चले जाने के लिए तैयार रहें।

वोलीविया लातिन अमेरिका में वेनेजुएला के बाद दूसरा बड़ा गैस भण्डार वाला देश है। विदेशी कम्पनियों की निराशा और डर को बढ़ाने वाला यह फैसला वेनेजुएला से इक्वाडोर तक अपने तेल और प्राकृतिक संसाधनों पर ज्यादा से ज्यादा नियन्त्रण हासिल करने के लिए जनता के संघर्षो की एक और बड़ी उपलब्धि है।

जनता की जीत की घोषणा करते हुए इवो मोरालेस ने कहा, ''वक्त आ गया है–वह चिरप्रतीक्षित दिन, वह ऐतिहासिक दिन आ गया है जब बोलीविया अपने प्राकृतिक संसाधनों पर फिर से पूर्ण नियन्त्रण कायम करने जा रहा है। ...विदेशी कम्पनियों की लूट खत्म हो चुकी है।'' (द हिन्दू, 3 मई 2006, एवं टाइम्स ऑफ इण्डिया, 5 मई 2006)

ओर, इससे तेल उपभोक्ता देशों को भी फायदा होगा। अगर वेनेजुएला अपने भारी कच्चे तेल की बिक्री सुनिश्चित करने में सफल हो जाता है तो वह 'ओपेक' (पेट्रोलियम निर्यातक देशों का संगठन) के सामने यह दावा कर सकता है कि उसका प्रमाणित तेल भण्डार बढ़कर 300 अरब बैरल हो गया है और इसे औपचारिक मान्यता प्रदान की जाय। इससे वैश्विक तेल व्यवस्था का स्वरूप बदले बिना नहीं रह सकता। फिलहाल सउदीअरब के पास 260 अरब बैरल का सबसे बड़ा तेल भण्डार होने का अनुमान है। ओपेक विभिन्न देशों के प्रमाणित तेल भण्डार के आधार पर उनके तेल उत्पादन के कोटे का निर्धारण करता है इसलिए तेल की कीमत तय करने में वेनेजुएला की भूमिका बढ़ जायेगी।

शावेज के शासन में आने के बाद से तेल की बिक्री से होने वाली आय का उपयोग लातिन अमरीकी देशों में बोलिवेरियाई क्रान्ति की प्रक्रिया को गति देने में किया गया है। शावेज सरकार ने सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों के लिए दी जाने वाली धनराशि 8 अरब डॉलर से बढ़ाकर इस वर्ष 10 अरब डॉलर कर दी है। इससे वेनेजुराला की एक ज्यादा बड़ी आबादी को सामुदायिक स्वास्थ्य सुविधा तथा वयस्क शिक्षा उपलब्ध हो सकेगी। वेनेजुएला लातिन अमरीका के अन्य देशों को भी पर्याप्त सहायता उपलब्ध कराने की कोशिश कर रहा है। उसने क्यूबा और दूसरे कैरिबियाई देशों को रियायती कीमत पर तेल आपूर्ति का आश्वासन दिया है। शावेज शासन के दौरान वेनेजुएला ने अर्जेण्टीना का 2.5 अरब डॉलर का बॉण्ड खरीदा जिसका मकसद उसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के कर्ज से मुक्ति दिलाना है।

पिछले जाड़े में शावेज सरकार ने संयुक्त राज्य अमरीका के गरीबों के घरों को गर्म रखने के लिए मुफ्त में तेल उपलब्ध कराया। इसके अलावा अपना इलाज करने में असमर्थ मेक्सिको के गरीब किसानों को हवाईजहाज से वेनेजुएला लाकर उनकी आँखों का इलाज करवाया।

आपसी सहयोग और भाईचारे की इन कार्रवाइयों से इस क्षेत्र में अमरीकी वर्चस्व का शिकंजा निश्चय ही कमजोर होगा और वह अलगाव में पड़ेगा। पिछले दिनों यह देखने में आया भी। इसका जिक्र 'देश-विदेश', अंक-1, मार्च 2006 में किया गया है।

वेनेजुएला में हो रहे परिवर्तनों का एक अन्य पहलू सेना से सम्बन्धित है। शावेज खुद सेना में अधिकारी रहा है। उसके नेतृत्व में हो रहे वर्तमान सुधारों में सेना की अहम भूमिका है। वेनेजुएला की सेना का चरित्र भी अन्य लातिन अमरीकी देशों की तुलना में थोड़ा भिन्न है। इसकी एक खासियत यह है कि सेना में सम्पन्न घरों से आने वाले अधिकारियों की तादाद काफी कम है।

1970 में वेनेजुएला सरकार ने 'एण्डीज बेलो' कार्यक्रम शुरू किया था जिसके तहत बड़ी संख्या में सैनिक अधिकारियों को देश के विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र या राजनीतिशास्त्र की पढ़ाई करने के लिए भेजा गया था। उस समय विश्वविद्यालयों में वामपन्थ का जबरदस्त प्रभाव था। विश्वविद्यालयों में पढ़ाई के दौरान सैनिक अधिकारी एक ओर प्रगतिशील विचारधारा के सम्पर्क में आये तो दूसरी ओर उन्हें आम छात्रों के साथ घुलने-मिलने का अवसर मिला। यही कारण है कि वेनेजुएला के सैनिक अधिकारियों का आम नागरिकों के साथ जुड़ाव अन्य लतिन अमरीकी देशों की तुलना में कहीं ज्यादा है।

अधिकांश लातिन अमरीकी देशों के सैनिक अधिकारी बड़ी संख्या में अमरीका के जार्जिया प्रान्त के फोर्ट बेनिंग में स्थित स्कूल ऑफ दी अमेरिकाज् में प्रशिक्षण प्राप्त करते रहे हैं। अमरीकी सेना द्वारा चलाया जा रहा यह स्कूल वर्षों से सैनिक अधिकारियों को अमरीका-परस्त बनाने तथा जन-बगावतों के दमन के लिए प्रशिक्षित करने वाला केन्द्र रहा है। किन्ही कारणों से वेनेजुएला अपने बहुत कम सैनिक अधिकारियों को इस स्कूल में भेजता रहा है। इसीलिए वहाँ की सेना में अमरीका-परस्त सैनिक अधिकारियों की संख्या कम रही है।

इन सब कारणों से वह अनुकूल परिस्थिति मौजूद थी जिसने ह्यूगों शावेज को सेना में अपने विचार फैलाने में मदद की। शावेज जब ड्यूटी पर नहीं होता तो वह समान विचारों वाले आदर्शवादी सैनिक अधिकारियों को लेकर 'बोलिवेरियाई क्रान्तिकारी आन्दोलन' नामक गुप्त संगठन के निर्माण में लगा रहता। देश की भ्रष्ट राजनीतिक पार्टियों से इन अधिकारियों का पूरी तरह मोहभंग हो चुका था। इन राजनीतिक पार्टियों में से ही कोई एक अदल-बदल कर सत्ता पर काबिज होती रहती थी। इन्हें सत्ताच्युत करने के लिए ये 'युवा तुर्क' अपनी कार्रवाइयों में जुट गये। अध्ययन-चक्रों के जरिये उन्होंने अपने को सुदृढ़ बनाया और आगे चलकर तख्तापलट के माध्यम से सत्ता में आने का प्रयास किया, लेकिन वे असफल रहे। बाद में ह्यूगो शावेज राष्ट्रपति चुनाव में निर्वाचित हुआ।

आज शावेज और उसकी पीढ़ी के सैनिक अधिकारियों में राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए भरपूर उत्साह मौजूद है। शावेज पहले की स्थिति का बयान इस तरह करता है, ''बहुत सालों तक वेनेजुएला के सैनिक नपुंसक बने हुए थे। हमें बोलने तक का अधिकार नहीं था। जब कभी भ्रष्ट और अक्षम सरकार की वजह से अत्याचार होता था तब हमें सिर्फ मूकदर्शक बने रहना पड़ता था। हमारे वरिष्ठ अधिकारी चोरी करते थे, हमारे सैनिकों के पास खाने के लिए कुछ भी नहीं रहता था और हमारे ऊपर सख्त अनुशासन लागू होता था। लेकिन यह कैसा अनुशासन था? हमें अत्याचार का सहभागी बना दिया गया

था।''

शावेज के सत्ता में आने के बाद सेना अब जनता की सहायता के लिए आगे आती है। 1999 में मूसलाधार वर्षा से उत्पन्न विपदा के दौरान हजारों शरणार्थियों के लिए लंगर चलाने तथा उनके रहने की व्यवस्था करने के लिए सेना की लामबन्दी की गयी। सैनिक अस्पताल को भी गरीब जनता के इलाज के लिए खोल दयिा गया है। सेना की नागरिक सेवा और इंजीनियरिंग इकाइयों को देश की सरकार द्वारा प्रस्तावित 'कृषि-उद्योग बन्दोबस्त' की स्थापना के लिए देश के विभिन्न इलाकों में तैनात किया गया है।

शावेज सरकार जब भूमिसुधार कार्यक्रम लागू करने की दिशा में आगे बढ़ी तथा उसने तेल उद्योग पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण कायम करना शुरू किया तब सेना के प्रमुख और आला अधिकारियों ने अमरीकी मदद से 11 अप्रैल 2002 को तख्तापलट के जरिये शावेज को सत्ताच्युत कर दिया। लेकिन शावेज के प्रति वफादार अधिकारियों, सैनिकों तथा देश की गरीब जनता ने आपसी सहयोग से उस षड्यन्त्र को विफल कर दिया।

तख्तापलट के षड्यन्त्र में शामिल करीब 100 आला सैनिक अधिकारियों को बर्खास्त कर दिया गया तथा इनकी जगह पर शावेज और 'बोलिवेरियाई क्रान्ति' के समर्थक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। इस बर्खास्तगी ने वेनेजुएला की सेना में मौजूद अमरीका समर्थक अधिकारियों से अमरीका को वंचित कर दिया। आज सेना ही शावेज की सबसे विश्वस्त संगठित ताकत है।

इस समय शावेज सरकार अतिरिक्त शहरी सेना का गठन कर रही है। इसे 'बोलिवेरियाई सर्किल' के नाम से जाना जाता है। इस सेना की संख्या लगभग 10 लाख होगी। यह सेना स्थायी सैनिकबल की मदद के लिए गठित की गयी है। इसके अलावा यह शहर के इर्द-गिर्द झोपड़ियों में बसने वाली आबादी के बीच संगठन बनाने और सामाजिक कार्यक्रमों को लागू करने का मुख्य साधन बनती जा रही है। यह भूमिसुधार कार्यक्रमों में तेजी लाने और निजी जमीन पर कब्जा करने में राष्ट्रीय गार्ड की मदद करती है।

सरकार के इन क्रिया-कलापों से अमरीका के शासक तथा वेनेजुएला का अभिजात वर्ग काफी नाखुश हैं। वे शावेज की सत्ता को समाप्त कर देना चाहते हैं। सरकार इनका जवाब देने के लिए देश-भर की गरीब जनता को तैयार करने में लगी है। इसी के साथ शावेज ने यह घोषणा भी की है कि सरकार राइफलें खरीदेगी और वेनेजुएला के 10 लाख लोगों को हथियारबन्द करेगी। अब तक वह एक लाख राइफलें खरीद भी चुकी है।

वेनेजुएला की सदियों से दबी-कुचली जनता आज जाग रही है। वह शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष के एक लम्बे और बहुत ही दुरूह रास्ते पर चलने की तैयारी में जुटी है। वेनेजुएला ही नहीं, पूरे लातिन अमरीका की जनता आज विश्व पूँजीवादी लूट के खिलाफ संघर्षरत है। जहाँ एक तरफ साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के अन्तर्गत दुनियाभर में थैलीशाह अपने डैने फैलाते जा रहे हैं वहीं लातिन अमरीका के देशों में उनके डैने कतरे जा रहे हैं। लातिन अमरीका की जनता संघर्ष की मशाल उठाकर आगे चल रही है। इसका कारण इन देशों के इतिहास में आसानी से तलाशा जा सकता है। ये देश सबसे पहले आजाद हुए। यूरोप के देशों से आकर बसे लोगों, अफ्रीकी मूल के निवासियों तथा यहाँ के मूल निवासियों के मिश्रण से जो नस्ल पैदा हुई वह दिमागी गुलामी और सामन्ती संस्कारों के बन्धनों से काफी मुक्त है। इसके अलावा अमरीका के पिछवाड़े होने के कारण प्रारम्भ से ही अमरीका इन देशों की आजादी को कुचलने के लिए अनेकों हथकण्डे अपनाता रहा है। इन देशों की जनता लगातार इसके खिलाफ संघर्षरत रही है। इनकी लड़ाई कभी थमी नहीं। ये संघर्ष और इन संघर्षों के दौरान पैदा हुए क्रान्तिकारी जननायक आज इन देशों की जनता के आदर्श और प्रेरणास्रोत हैं। लूट, उत्पीड़न और गुलामी के विरुद्ध संघर्ष की इन देशों की एक लम्बी विरासत है। मौजूदा संघर्ष इसी शानदार विरासत की अगली कड़ी है। □

समाचार-विचार

भारत के दूधिया वर्गीज कूरियन और डेयरी-क्षेत्र से इनकी विदाई

कूरियन का पदार्पण डेयरी-क्षेत्र में एक युग का आरम्भ था। उनकी भावहीन कृतघ्न विदाई उस युग का अन्त है।

कोआपरेटिव आन्दोलन की शुरुआत से पहले एक उद्योग के रूप में भारत का डेयरी-क्षेत्र बहुत ही निम्न अवस्था में था। तब आणन्द-स्थित पेस्टनजी एडुल्जी की पोल्सन डेयरी का वहाँ के दूध के कारोबार पर एकाधिकार था। यह डेयरी छोटे-छोटे दूध-उत्पादकों के शोषण का पर्याय बनी हुई थी।

1946 में चकलासी गाँव के किसानों ने पोल्सन के एकाधिकार को चुनौती दी और गाँव-गाँव में कोआपरेटिव और मिल्क यूनियन बनाने की शुरुआत की। कुछ ही समय बाद डॉ. वर्गीज कूरियन किसानों के इस आन्दोलन में शामिल हो गये।

कोआपरेटिव और यूनियनें शुरुआती दौर में छोटे-छोटे दूध-उत्पादकों का दूध इकट्ठा करके उसका शोधन और बिक्री करती थीं। साथ ही दुधारू पशुओं के नस्ल सुधारने जैसे काम भी इन कोआपरेटिवों द्वारा किया जाने लगा। इसतरह, छोटा से छोटा किसान भी कोआपरेटिव से लाभान्वित होता था और उसमें भागीदारी निभाता था।

छोटे-छोटे किसानों की भागीदारी और उनका आपसी सहयोग रंग लाया। चन्द गाँवों से शुरू हुआ यह आन्दोलन पूरे देश में कोआपरेटिव आन्दोलन की सफलता का प्रतीक बन गया। इस काम में कूरियन की महती भूमिका रही। आणन्द मिल्क यूनियन लिमिटेड–अमूल (AMUL) एक अत्यन्त लोकप्रिय ब्राण्ड बन गया, जिसने नेस्ले, कैडबरीज्, ग्लैक्सो और लीवर जैसे बहुराष्ट्रीय निगमों से मुकाबला करते हुए अपने को स्थापित किया। आगे चलकर कूरियन ने राष्ट्रीय डेयरी विकास परिषद (NDDB) की स्थापना की और उसके संस्थापक चेयरमैन बने। परिषद के माध्यम से उन्होंने इस प्रयोग को पूरे देश में फैलाने का प्रयास किया।

वैसे तो देश के अन्य हिस्सों में भी सरकार ने कोआपरेटिव आन्दोलन को फैलाने का प्रयास किया लेकिन अधिकांश मामलों में उसे असफलता ही हाथ लगी। समाजवादी प्रयोगों की भोंड़ी नकल करके उन्हें नौकरशाहाना ढंग से जनता पर थोपने का यही हश्र हुआ कि कुछ को छोड़कर लगभग सभी कोआपरेटिव लूट-खसोट और भ्रष्टाचार के पर्याय बन गये। कूरियन और उनके सहयोगियों ने आजादी के तुरन्त बाद कोआपरेटिव को दिये जाने वाले प्रोत्साहन का लाभ उठाया। गुजरात के कोआपरेटिव आन्दोलन की सफलता का श्रेय निश्चय ही जनता के सहयेाग तथा कूरियन की ईमानदारी, सूझबूझ ओर कर्मठता को जाता है।

1991 में नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद यह क्षेत्र रिलायन्स, कैडबरीज् और नेस्ले जैसे राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय निगमों के निशाने पर आ गया और उन्हीं के हित में इसका निजीकरण करने के लिए कदम उठाये जाने लगे।

इस दिशा में पहला कदम है कोआपरेटिवों को धीरे-धीरे निजी कम्पनी में तब्दील कर देना। राष्ट्रीय डेयरी विकास परिषद निजी पूँजीपतियों को शामिल करते हुए एक संयुक्त उपक्रम बनाने की योजना पर काम कर रहा है जिसके अनुसार कोआपरेटिवों से विपणन का अधिकार छीनकर उसे संयुक्त उपक्रम को सौंप दिया जायेगा। बदले में कोआपरेटिवों को उसका 49% शेयर दे दिया जायेगा। इसप्रकार, दूध और दूध से बनने वाले सामानों के सभी प्रचलित और स्थापित ब्राण्ड, जिनपर प्रदेश के मिल्क फेडरेशनों और कोआपरेटिवों की मिल्कियत थी, अब संयुक्त उपक्रम के अधीन हो जायेंगे और वर्षों के अथक प्रयासों से तैयार किये गये बाजार पर उसका नियन्त्रण स्थापित हो जायेगा। चूँकि संयुक्त उपक्रम एक निगम होगा अत: शेयरों की खरीद के माध्यम से इसमें देशी-विदेशी पूँजी का प्रवेश और वर्चस्व सम्भव हो जायेगा। देशी-विदेशी थैलीसाहों की रुचि किसी नये क्षेत्र में पूँजीनिवेश करना और उत्पादन के आधारों का विस्तार करना नहीं है। जमे-जमाये उद्योगों को तीन-तिकड़म से हड़पने को ही वे आर्थिक सुधार और उदारीकरण का नाम देते हैं। डेयरी-क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है।

राष्ट्रीय डेयरी विकास परिषद की इस योजना से कूरियन की न केवल असहमति थी, बल्कि वे उसे लागू न करने देने के लिए कटिबद्ध थे क्योंकि उनका मानना था कि इस माध्यम से कोआपरेटिवों का ''पिछले दरवाजे से निजीकरण किया जा रहा है।'' गुजरात कोआपरेटिव मिल्क मार्केटिंग फेडरेशन (GCMMF) का खुलासा करते हुए उन्होनें कहा कि इसका ''बोर्ड निजी स्वार्थ के एक बड़े खेल का मोहरा बन चुका है, जो कोआपरेटिव को हड़पना चाहता है।'' स्पष्ट है कि यह ''बड़ा खेल'' देशी पूँजीपतियों के साथ मिलकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा खेला जा रहा है।

डॉ. वर्गीज कूरियन कोआपरेटिव को राष्ट्रीय डेयरी विकास परिषद के निगमीकरण और निजीकरण की योजना से बचाने की लगातार कोशिश करते रहे लेकिन इस कोशिश में वे लगातार अलगाव में पड़ते गये। बदली हुई परिस्थितियों में उनका आदर्श यहाँ के शासकों के मन-माफिक नहीं रहा। जब पूरे देश की बोली लग रही हो तो अमूल भला कब तक बचा रहता। अन्तत: स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि गुजरात कोआपरेटिव मिल्क मार्केटिंग फेडरेशन के बोर्ड के 11 में से 10 सदस्यों ने इनके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाने का निर्णय कर लिया। इसतरह, भारत के दूधिया ने मजबूर होकर 20 मार्च को फेडरेशन के चेयरमैन के पद से, जिस पर वे 33 वर्षों से विराजमान थे, इस्तीफा दे दिया।

डेयरी-क्षेत्र से कूरियन को इसतरह विदा किया जाना एकाधिकार के युग की पुनर्स्थापना है। जिस क्षेत्र के विकास में उन्होंने अपना जीवन लगा दिया था, एकाधिकारी पूँजी ने उसी क्षेत्र से उन्हें बेरुखी से निकाल बाहर कर दिया।

भारत के डेयरी-क्षेत्र पर एकाधिकार स्थापित हो जाने के बाद इस क्षेत्र से जुड़े कितने लोग हाशिये से भी बाहर फेंक दिये जायेंगे, कूरियन-प्रकरण ने उस ओर स्पष्ट संकेत दे दिया है।

डेयरी-क्षेत्र पर देशी-विदेशी निगमों का वर्चस्व स्थापित होते ही दूध और दूध से बने पदार्थों का, जो अभी ही एक बहुत बड़ी गरीब आबादी के लिए दुर्लभ हैं, मध्यवर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से की पहुँच से भी बाहर हो जाना लाजिमी है। इस प्रक्रिया में छोटे दूध-उत्पादकों का पुसने जमाने की तरह निर्मम शोषण और

तबाही भी अनिवार्य है। □

समाचार-विचार

भारत पर कसता अमरीकी शिकंजा

अमरीकी विदेशमन्त्री कोण्डालीसा राइस ने अमरीका के दौरे पर गये भारतीय सांसदों के एक प्रतिनिधिमण्डल से बातचीत में कहा कि भारत को 18 जुलाई 2005 के नाभिकीय समझौते में कुछ संशोधनों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना होगा। इस समझौते को कांग्रेस से पारित करवाने के सन्दर्भ में यह स्पष्ट होना जरूरी है कि भारत के अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी के साथ क्या रिश्ते बन रहे हैं।

प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य शाहिद सिद्दीकी ने आशंका जतायी है कि कहीं हमें पिछले दरवाजे से 'व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि' में तो शामिल नहीं कर दिया जायेगा क्योंकि यह भारतीय संसद और खासतौर से वामदलों को स्वीकार्य नहीं होगा। (हिन्दुस्तान टाइम्स, 4 मई 2004)

अमरीका नाभिकीय समझौते का इस्तेमाल भारत की नकेल की तरह कर रहा है। इसे अमरीकी कांग्रेस में पारित करवाने की शर्त लगाकर वह लगातार भारत पर दबाव बनाये हुए है और उसके पारित होने में अड़चनों का भय दिखाकर एक-एक करके और ज्यादा स्पष्ट शब्दों में अपनी शर्तें मनवाता जा रहा है। नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में थोड़े से तात्कालिक फायदों, नाभिकीय-शक्ति-सम्पन्न देशों की नजर में दोयम दर्जे की हैसियत और क्षेत्रीय महाशक्ति के रूप में अपनी पहचान बनाने की महत्वाकांक्षा को पूरा करने में अमरीकी सहयोग पाने के लालच में भारत अमरीका द्वारा बिछाये गये जाल में फँसता जा रहा है। भारत सरकार और भारतीय पूँजीपित वर्ग इस समझौते को अमरीकी कांग्रेस से पास करवाने के लिए जितने व्यग्र और बेचैन हैं, अमरीका उतने ही ठण्डे दिमाग से चालें चल रहा है। अमरीका के सथ इस करार की सम्भावना क्षीण होते देख भारतीय शासक वर्ग को अपने पैरों तले की जमीन खिसकती हुई नजर आने लगती है क्योंकि अमरीकी सम्राज्यवाद से इस समझौते के लिए उसने न सिर्फ गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अपने सहयोगी देशों से अपने को अलग कर लिया है, बल्कि देश की जनता के साथ भी विश्वासघात किया है।

अमरीका का यह पुराना आजमाया हुआ तरीका रहा है। पहले वह चारा फेंकता है, अपना शिकार फाँसता है और फिर उसका पूरी तरह इस्तेमाल करके, उसे जलील और अपमानित करके फेंक देता है। दुनिया में इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। क्या भारत की सरकार नहीं जानती कि एक समय के अमरीका के चहेते नोरिएगा, मार्कोस और सद्दाम का क्या हश्र हुआ? भारत जितना उसके ऊपर निर्भर होता जायेगा, उतनी ही उसकी दखलन्दाजी बढ़ती जायेगी। अपने साम्राज्यवादी मन्सूबों की पूर्ण अधीनता से कम क्या किसी और बात से वह सन्तुष्ट होगा? भारत के शासक वर्गों को दुनिया का आधुनिक इतिहास पढ़ लेना चाहिए।

अमरीका किसी भी राष्ट्र की सम्प्रभुता को स्वीकार नहीं करता। उसे अगर सन्देह भी हो कि कोई देश उसके लिए खतरा पैदा कर सकता है तो सिर्फ आशंका के आधार पर उस पर हमला बोल देना वह अपना अधिकार समझता है। इसलिए अमरीका द्वारा की गयी सन्धियों और समझौतों की कीमत उसकी नजर में रद्दी के एक टुकडे से ज्यादा नहीं है। क्या भारत के शासन इस बात को नहीं जानते?

आज जिन-जिन नियम-कानूनों को ईरान में दखलन्दाजी के लिए अमरीका इस्तेमाल कर रहा है, कल उन्हीं का सहारा लेकर भारत पर हमला नहीं करेगा, इसकी क्या गारण्टी है? लेकिन अपने संकीर्ण तात्कालिक स्वार्थों के लालच में फँसा भारतीय शासक वर्ग अन्धा हो चुका है और ईरान पर अमरीकी नीति का समर्थन कर रहा है। इतना ही नहीं, ऐसे समय में देश की बागडोर एक तकनीकी आदमी को सौंप दी गयी है जिसने विश्व बैंक और सचिवालायों में सिर्फ फाइलें निबटाने की ट्रेनिंग पायी है। भारत के इन रहनुमाओं से भला और क्या उम्मीद की जा सकती है?

□

समाचार-विचार

दो कौड़ी की पत्रकारिता

6 मई 2006 को टाइम्स ऑफ इण्डिया अखबार ने अमरीका की फोर्ब्स पत्रिका को उद्धृत करते हुए बताया है कि समाजवादी देश क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो दुनिया के 10 सबसे धनी व्यक्यिों में से एक हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों की कुल सम्पत्ति को फिदेल की व्यक्तिगत

सम्पत्ति मानकर यह नायाब नतीजा निकाला गया है कि उनकी कुल सम्पत्ति 90 करोड़ डालर यानी 4,050 करोड़ रुपये है।

अगर किसी देश के राष्ट्राध्यक्ष की निजी सम्पत्ति के आकलन का आधार यही है तो इस हिसाब से चीनी राष्ट्रपति हू चिन-ताओ की सम्पत्ति शायद दुनिया में सबसे ज्यादा होगी। उनका नाम इसलिए धनी लोगों की सूची में नहीं है क्योंकि वह अमरीका का तरफदार है। इसीतरह गणना की जाय तो बुश और ब्लेयर भी हजारों अरब डालर की सम्पत्ति के मालिक पाये जायेंगे। पश्चिमी दुनिया के आध्यात्मिक गुरू पोप की सम्पत्ति अरबों में निकलेगी। यहाँ तक कि भारत जैसे देश के राष्ट्रपति की सम्पत्ति भी अरबों-खरबों में होगी। लेकिन धनी व्यक्तियों की सूची में उनके नाम नहीं दिये गये हैं।

अपने से विरोधी विचारधारा और जीवनशैली को बदनाम करने और उनके खिलाफ दुष्प्रचार के लिए अमरीकी सूचना केन्द्र '50 के दशक से ही बड़े पैमाने पर इसीतरह की भ्रामक और कुत्सित बातों से भरी किताबें छाप-छाप कर दुनिया-भर में ठेलते रहे हैं, जिनमें इतने भोंड़े तरीके से झूठ का प्रचार किया जाता था कि लोगों को उनसे अरुचि हो गयी थी।

फिदेल और समाजवाद के विरोध और नफरत के चलते अमरीकी मीडिया कुत्साप्रचार की जो मुहिम चलाता रहता है वह कोई नयी बात नहीं है। इसतरह की भ्रामक खबरों को अमरीकी स्रोतों से हू-ब-हू उठाकर भारतीय अखबारों में प्रकाशित किया जाना इन अखबारों की बढ़ती अमरीका-परस्ती और विदेशियों की चाटुकारिता की प्रवृत्ति का एक नमूना है। आज देश के अधिकांश अखबार इस मामले में एक-दूसरे को पीछे छोड़ देने की होड़ में लगे हुए हैं। वे इतने घटिया स्तर पर उतारू होते जा रहे हैं कि धीरे-धीरे मध्यवर्ग के प्रबुद्ध पाठकों में उनकी साख पूरी तरह खोती जा रही है। टाइम्स ऑफ इण्डिया की बिक्री अब गम्भीर लेखों और बेबाक रिपोर्टों के कारण नहीं, बल्कि ज्यादा पन्ने, रंग-बिरंगे फोटो और ऊटपटांग सूचनाओं के चलते हो रही है। यह उसके गिरते स्तर और दो कौड़ी की पत्रकारिता का ही नमूना है।

□

समाचार-विचार

मध्य प्रदेश में एशियाई विकास बैंक की कारगुजारियाँ

मध्य प्रदेश में एशियाई विकास बैंक की कारगुजारियों से इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भाजपा अपनी जनविरोधी और मजदूर विरोधी नीतियों के अलावा विदेशी पूँजी की चाटुकारिता में भी कांग्रेस से बहुत आगे रही है।

1999 में मध्य प्रदेश के सार्वजनिक संसाधनों के प्रबन्धन के नाम पर एशियाई विकास बैंक से कर्ज लेने की शुरुआत हुई। इस परियोजना के तहत मध्य प्रदेश सरकार के 6 निगम बन्द कर दिये गये और अन्य 4 को भी निजी क्षेत्र को सौंपने की तैयारी की जा रही है। पर्यटन विकास निगम की सारी जायदाद बेचने के निर्देश जारी करने और बाबई स्थित प्रदेश के सबसे बड़े कृषि फॉर्म को बहुराष्ट्रीय कम्पनी पेप्सी को सौंपने का काम इसी के तहत हुआ। प्रदेश के निगमों और मण्डलों में काम करने वाले कुल 37,000 कर्मचारियों में से 16,500 से ज्यादा की छँटनी भी इस कर्जे की शर्तों में शामिल थी। इनके लिए चलायी गयी स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति योजना (वी.आर.एस.) की राशि भी इस कर्ज से दी गयी। प्रदेश के हजारों दैनिक वेतनभोगी कर्मचारियों छँटनी, लोकनिर्माण विभाग के कर्मचारियों की संख्या में कटौती, नियमित शिक्षकों के स्थान पर 'शिक्षाकर्मी', 'संविदा शिक्षक' तथा 'गुरूजी' के नाम से पैरा-शिक्षकों की नियुक्ति व शोषण का काम भी एशियाई विकास बैंक तथा विश्व बैंक के निर्देश पर हुआ। समान काम के लिए असमान वेतन देना भी शुरू किया गया। इन सब कारणों से प्रदेश में बेरोजगारी की समस्या और भी भयानक हो गयी।

मध्य प्रदेश की सड़कों के विकास के लिए दिये गये कर्ज के साथ एशियाई विकास बैंक ने सड़कों के निजीकरण, राज्य परिवहन निगम की समाप्ति और लोकनिर्माण विभाग के कर्मचारियों की छँटनी की शर्तें लगायी हैं। प्रदेश की अनेक सड़कों को बी.ओ.टी. (बनाओ, चलाओ और वापस कर दो) योजना के तहत देशी-विदेशी कम्पनियों को सौंप दिया गया है और हर जगह थोड़ी-थोड़ी दूर पर टोल टैक्स वसूली के लिए कम्पनियों के बैरियर लग गये हैं। आश्चर्य की बात तो

यह है कि इन कम्पनियों को मध्य प्रदेश सरकार ने निर्माण पर आयी लागत का 50 से 70% तक अनुदान दिया। इसतरह इन कम्पनियों को स्वयं की बहुत ही कम पूँजी लगानी पड़ी। सरकारी अनुदान पर निजी कम्पनियों की कमाई का यह नायाब उदाहरण है। एशियाई विकास बैंक ओर विश्व बैंक के निजीकरण कार्यक्रमों में ऐसे घोटाले हर जगह देखे जा सकते हैं।

मध्य प्रदेश के 6 शहरों की जलापूर्ति और सफाई व्यवस्था सुधारने के नाम पर दिये गये एशियाई विकास बैंक के कर्ज में तो हद कर दी गयी है। झोपड़पट्टी का कितना भी गरीब आदमी क्यों न हो, उसे मुफ्त पानी नहीं मिलेगा और कोई भी नल बिना मीटर के नहीं होगा, यह बैंक का फरमान है। नल में मीटर लगाने और सण्डास को मल-निकासी प्रणाली (सीवर) से जोड़ने का शुल्क दो-दो हजार रुपये होगा। प्रत्येक शहर की पानी की दरों तथा सम्पत्ति करों में 50 से 200 प्रतिशत वृद्धि के साथ-साथ कचरा शुल्क, मल-निकासी एवं सफाई शुल्क आदि कई नये-नये शुल्क लगाने के निर्देश भी नगरपालिकाओं को दिये गये हैं। कुल मिलाकर पानी के निजीकरण और पानी को भी बाजार बनाने की दिशा में यह परियोजना एक बड़ा कदम है। इसीतरह प्रदेश की सिंचाई व्यवस्था की मरम्मत के लिए विश्व बैंक ने एक कर्ज मंजूर किया है, जिसमें सिंचाई शुल्क बढ़ाने की शर्त लगायी गयी है, चाहे किसान वहन कर पाये या नहीं।

एशियाई विकास बैंक की परियोजनाओं में 10.5 से 12% तक तक ब्याज वसूला जाता है जबकि अन्तरराष्ट्रीय बाजार में ब्याज की दरें 5-6% हैं। बैंक की लगभग हर परियोजना में यह शर्त रहती है कि ग्लोबल टेण्डर बुलाये जायें और खर्च के कम से कम एक हिस्से का भुगतान विदेशी मुद्रा में किया जाय। बैंक के दस्तावेजों के मुताबिक 1996-2000 के बीच मात्र 5 वर्षों में इसकी परियोजनाओं से अमरीका, जर्मनी, इंग्लैण्ड, जापान और इटली की कम्पनियों ने 480 करोड़ डालर यानी 21,600 करोड़ रुपये के आर्डर हासिल किये। इस समय भारत हर साल 800-900 करोड़ रुपये का भुगतान ब्याज के रूप में एशियाई विकास बैंक को कर रहा है। इस शोषण के बावजूद उसके कर्जे को 'रियायती कर्ज' तथा 'विकास सहायता' बताकर ये सरकारें देश पर कर्ज का बोझ बढ़ाती जा रही हैं। □

समाचार-विचार

अमरीका के दबाव में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार

बुश की भारत-यात्रा के 6 सप्ताह के भतीर भारत सरकार ने 13.6 अरब डॉलर यानी 6,120 अरब रुपये की अमरीकी ट्रेजरी बॉण्ड खरीदे हैं। अचानक इतने बड़े पैमाने पर ट्रेजरी बॉण्ड की खरीददारी के पीछे अमरीका का दबाव है, जिसका विदेश व्यापार घाटा 2005 में 726 अरब डॉलर (टाइम्स ऑफ इण्डिया, 3 मई 2006) तक जा पहुँचा था। ट्रेजरी बॉण्ड एक तरह का कर्ज होता है। अपनी अर्थव्यवस्था की बुरी हालत के कारण अमरीका को बाहर से कर्ज लेकर अपने उपभोग पर खर्च करना पड़ रहा है। इसके लिए वह भारत जैसे देशों पर अपनी प्राथमिकताएँ बदलने के लिए दबाव डाल रहा है।

बुश की यात्रा के पहले योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोण्टेक सिंह अहलूवालिया के विचार थे कि भारत को अपने विशाल विदेशी मुद्रा भण्डार के एक हिस्से का उपयोग आधारभूत ढाँचे के विकास के लिए करना चाहिए; अनावश्यक अमरीकी ट्रेजरी बॉण्ड बेचकर उस रकम से लोहा, सीमेण्ट आदि खरीदकर सड़क, बन्दरगाह, पुल, बिजलीघर, नहरें और अन्य आधारभूत सुविधाएँ बनायी जानी चाहिए। लेकिन बुश की यात्रा के बाद से उनके विचार बदल गये हैं। विदेशी मुद्रा भण्डार के इस्तेमाल के बारे में उन्होंने चुप्पी साध ली है।

स्पष्ट है कि देश की जनता की गाढ़ी कमाई देश के विकास और आम लोगों के लिए शिक्षा, इलाज, रोजगार, बिजली, पानी और घर जैसी बुनियादी जरूरतों पर खर्च करने के बजाय अमरीका के हवाले की जा रही है। (दैनिक जागरण, 3 मई 2006) □

जेरे-बहस

जाहिरा शेख के बचाव में

– उज्ज्वला

8 मार्च को, अपने बयान बदलने, झूठ बोलने और अदालत को गुमराह करने के अपराध में देश के सर्वोच्च न्यायालय ने जाहिरा शेख को एक साल की कैद और 50 हजार रुपये जुर्माना की सजा दी। गुजरात के दंगे में जाहिरा शेख के परिवार के लोगों का कत्लेआम किया गया, परिवार की जीविका का साधन–बेकरी फूँक दी गयी। जाहिरा शेख और परिवार के बचे-खुचे लोगों को हजारों पीड़ाओं और यन्त्रणाओं के दौर से होकर गुजरना पड़ा। बेकरी फूँकने वाले और कत्लेआम करने वाले उन्मादी साँड़ की तरह खुलेआम सड़कों पर घूम रहे हैं। यह सब कुछ सारा देश जानता है–विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के शीर्ष पदों पर बैठे लोग भी।

न्यायपालिका के शीर्ष पदों पर बैठे हुए न्यायमूर्तियों ने पुरस्कार में जाहिरा शेख को एक साल की जेल और 50 हजार रुपये जुर्माना दिया है।

सब लोग जानते हैं कि जाहिरा शेख का परिवार एक सामान्य खाता-पीता परिवार रहा है, एक अल्पसंख्यक समुदाय का परिवार रहा है और आज वह एक असहाय की जिन्दगी जीने को मजबूर है।

हमारी समझ से जाहिरा शेख को इस देश की कानून व्यवस्था, न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका इन्साफ नहीं दे सके हैं, उसके साथ सरासर ज्यादती हुई है, उसे उत्पीड़न और यन्त्रणा मिली है जबकि उसका कोई अपराध नहीं है। हम उसकी इस लड़ाई को जनता की अदालत में ले जाना चाहते हैं और उसके बचाव में उसकी वकालत करना चाहते है।

इसके पहले कि हम उसके बचाव के लिए बहस शुरू करें, हम कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं और तथ्यों का बयान करना चाहते हैं, जिन्हें सारा देश जानता है और दुनिया का एक बड़ा हिस्सा भी।

(1) 27 फरवरी 2002 को गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस में आग लगी जिसमें 56 लोग मारे गये। यह सब कैसे हुआ आज तक इसका खुलासा नहीं हो सका है। तथ्यों पर लीपापोती करने का प्रयास किया गया, तह में पहुँचने से रोका गया और तत्कालीन गुजरात सरकार और भाजपा के नेतृत्व वाली केन्द्र सररकार ने तरह-तरह के अड़ंगे लगाकर सच्चाई को सामने नहीं आने दिया। कई बार कई जाँच कमेटियाँ बैठीं, आधी-अधूरी रिपोर्टें बनीं, लेकिन सच का पता नहीं चल सका। परन्तु इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि यह एक हिन्दूवादी साम्प्रदायिक-सांस्कृतिक संगठन और उसके द्वारा नियन्त्रित एक राजनीतिक पार्टी द्वारा करवाया गया।

(2) इसके तुरन्त बाद गुजरात में नरसंहार किया गया। पूरा देश यह जान चुका है और सारी दुनिया जानती है कि यह नरसंहार एक हिन्दूवादी साम्प्रदायिक संगठन और उसकी राजनीतिक पार्टी द्वारा सुनियोजित तरीके से करवाया गया, जिसका मुख्यमन्त्री नरेन्द्र मोदी आज भी गुजारात में शासन कर रहा है। 2,000 से ज्यादा लोगों की जानें गयीं, जिसमें मुसलमान ही मुसलमान थे। हो सकता है एक-आध हिन्दू भी मरे हों। घरों को लूटा गया, बच्चे और बूढ़े स्त्री-पुरुषों को बेरहमी से मारा गया, बलात्कार किये गये। भारत के इतिहास में शायद ही एक सरकार और उसके जनाधार में शामिल हिन्दुओं द्वारा कभी इतनी कायरतापूर्ण और क्रूर कार्रवाई को अंजाम दिया गया हो। सारी दुनिया इस सच्चाई को जानती है, सर्वोच्च न्यायालय भी। आजकल सुप्रीमकोर्ट समाचार पत्रों में छपी खबरों के आधार पर भी कई मामलों में सुनवाई करने लगा है लेकिन गुजरात के दंगों पर वह खामोश रहा। देश-भर की विधायिकाएँ, संसद, न्यायपालिका और कार्यपालिका कुछ भी नहीं कर सके, बल्कि केन्द्र सरकार के उच्चपदस्थ अधिकारियों और मन्त्रियों, जिनमें लौहपुरुष के नाम से जाने जाने वाले तत्कालीन गृहमन्त्री भी शामिल थे, का तो उनको मौन समर्थन ही था।

गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले भाजपा के दो चोटी के नेता अटल और आडवाणी कभी पाकिस्तान में, कभी यूरोप की किसी राजधानी में, कभी इस देश में अलग-अलग महिफलों में, इसे हिन्दू और हिन्दुस्तान के नाम पर कलंक भी कहते रहे, लेकिन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में उसका समर्थन करते रहे और अपराधियों के सरगना नरेन्द्र मोदी का कद बढ़ाते रहे।

भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार चली गयी और कांग्रेस के नेतृत्व वाली सरकार आयी। वह भी कुछ नहीं कर सकी। सब कुछ जैसे-तैसे चलता रहा।

(3) मुकदमे चले, सारे अपराधी बाइज्जत छूट गये और ये सारे अपराधी आज गुजरात में नायक और महानायक बन कर घूम रहे हैं। मुकद्दमा महाराष्ट्र में स्थानान्तरति किया गया। 21 में से 4 मुख्य और बड़े अपराधी तो अदालत

में हाजिर ही नहीं हुए, 8 पर्याप्त सबूतों के अभाव में बरी हो गये और केवल 9 को उम्रकैद की सजा हुई। 4 साल बाद यह न्याय मिला। प्रमुख अपराधियों का कुछ भी नहीं हुआ है। जाहिरा शेख को बयान बदलने के अपराध में सजा सुनाने वाला सुप्रीम कोर्ट, उसे बयान बदलने के लिए मजबूर करने वाले और डराने-धमकाने वाले स्थानीय एम.एल.ए. मधु श्रीवास्तव के खिलाफ जाँच के लिए आदेश देने तक का साहस नहीं जुटा पाया। एक जर्मन महिला से बलात्कार का मामला एक हफ्ते में निपटा दिया गया और बलात्कारी को सजा हो गयी। हमें इसकी खुशी है कि ऐसा हुआ। लेकिन क्या हजारों लोगों के कत्लेआम और बलात्कार का मामला इतना कम संगीन है कि 4 साल तक भी इन्साफ न हो?

यह है हमारे देश की न्याय प्रणाली जो हमें औपनिवेशिक दासता से विरासत में मिली है और जिसे काले साहबों ने अपनाया है। जिन लोगों पर मुकदमे चले हैं और सजाएँ हुई हैं, वे छुटभैये हैं। अपराधियों के सरगना तो वहाँ के मुख्यमन्त्री, उसके सहयोगी मन्त्रिमण्डल के सदस्य, उच्चपदस्थ नौकरशाह और पुलिस अधिकारी हैं। यह बात इस देश का बच्चा-बच्चा जानता है, और सारी दुनिया भी। लेकिन आज भी यह अपराधी भारतीय जनता पार्टी का सबसे कद्दावर नेता है–भारत का संविधान, कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका, समाचार माध्यम सब इसके सुरक्षा कवच हैं । यही है भारत की इस न्याय प्रणाली की असलियत।

(4) यह सच है कि जाहिरा शेख ने अपने बयान बदले हैं, उसने तिस्ता सीतलवाड़ पर झूठा आरोप लगाया है। इसी तकनीकी आधार पर देश के सर्वोच्च न्यायालय ने उसे एक साल की कैद और 50 हजार रुपये जुर्माने की सजा दी है। लेकिन इसकी तह में छिपी सच्चाई कुछ और है। यह बात भी सारा देश जानता है। हम नीचे इसकी जिरह करेंगे।

ऐसे और भी ढेर सारे तथ्य हैं जिन्हें जनता की अदालत में साबित करने की जरूरत नहीं। वे स्वयंसिद्ध हैं, सब लोग इस बात को जानते हैं।

जनता की अदालत में औपनिवेशिक दासता से विरासत में मिली कानून की परिधि में फैसले नहीं होते। वहाँ फैसलों का आधार नीर-क्षीर विवेक होता है, यानी दूध का दूध और पानी का पानी।

जाहिरा शेख ने जो झूठ बोला और बयान बदले, सबसे पहले हम उसके बारे में कुछ कहना चाहेंगे। पहले उसने शौर्य का परिचय दिया, काफी हिम्मत दिखायी, अपराधियों को पहचानने और गुजरात की सरकार, नरेन्द्र मोदी, उसके गुण्डों और सारी ताकत के खिलाफ उठ खड़ी होने के लिए तैयार हुई। उसके पास जीवन का अनुभव नहीं था। इस न्याय प्रणाली के बारे में वह भ्रम में थी। वह नहीं जानती थी कि यह न्याय प्रणाली गरीबों को न्याय नहीं देती।

तिस्ता सीतलवाड़ जैसे लोग जो इस समाज के सम्भ्रान्त घरों से आये हैं, उनकों इस न्याय प्रणाली में राहत मिल सकती है, न्याय मिल सकता है। उनका इस न्याय प्रणाली और समाज व्यवस्था पर अटूट भरोसा और श्रद्धा है। अगर भारत को अमीर-गरीब, शोषक और शोषित, उत्पीड़क और उत्पीड़ित दो हिस्सो में बाँटा जाय तो तिस्ता सीतलवाड़ और उसके जैसे लोग कुलीनों के तबके में आते हैं। ऐसे लोगों का इस न्याय प्रणाली और इस व्यवस्था पर भरोसा होना और उनका भ्रम में पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक है। इन्हें व्यवस्था के प्रति ईमानदार लोगों की संज्ञा दी जा सकती है। ये चोर-उचक्के और अपराधी नहीं हैं। ऐसे ईमानदार लोग मर रही व्यवस्था को थोड़ा और जिन्दा रखने में मददगार साबित होते हैं।

लेकिन जाहिरा शेख तिस्ता सीतलवाड़ नहीं है। जाहिरा इस व्यवस्था के निकृष्टतम अपराधियों और इसके प्रति श्रद्धा रखने वाले ईमानदार लोगों के बीच एक मोहरा बन गयी है। एक ओर तिस्ता सीतलवाड़ और उसके जैसे लोग सोचते थे कि मोदी ओर उसके गुण्डों को सजा दिलवाकर रहेंगे, तो दूसरी ओर नरेन्द्र मोदी के गुण्डे सोचते थे कि तिस्ता सीतलवाड़ की नहीं चलने देंगे। यह इस व्यवस्था के भीतर के दो धड़ों के बीच का संघर्ष है, जिसके बीच जाहिरा शेख असहाय-सी, किंकर्त्तव्य विमूढ़, विस्मित, टुकुर-टुकुर देख रही है और उसकी आँखों से लगातार आँसू बरसते रहे हैं। जाहिरा शेख की पीड़ा को तिस्ता सीतलवाड़ जैसे लोग कैसे समझ सकते हैं, जिन्होंने देखने की बात तो दूर रही, कभी सपने में भी नहीं सोचा होगा कि भारत के दूसरे हिस्से के लोग कैसे जीते हैं और उनके साथ क्या-क्या होता है।

हम यहाँ भारत के राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को उद्धृत करना चाहते हैं। कुछ दिनों पहले की बात है कि एक बार उनके सामने हाल में फाँसी की सजा पाये 100 लोगों

की सूची पेश की गयी। जब राष्ट्रपति ने वह सूची पढ़ी तो उन्होंने कहा कि आखिर ऐसा क्या कारण है कि 100 लोगों की इस सूची में सब गरीब लोग ही हैं। हमें खुशी है कि भारत के राष्ट्रपति के मस्तिष्क के किसी कोने में अपने बचपन की कुछ स्मृतियाँ बची हुई हैं, जब रामेश्वरम के एक छोटे से गाँव में उनके माँ-बाप रद्दी कागज बेचने की दुकान पर बैठा करते थे। परिवार की आय में मन्दिर का प्रसाद भी एक हिस्सा बनता था। यह बात वर्तमान और इस व्यवस्था के गया एक तल्ख इसमें गरीब भारत की है। हमें यह जानकर खुशी हुई कि भारत के राष्ट्रपति भी ऐसा ही सोचते हैं। इससे ज्यादा कहने पर तो जैक लण्डन के उपन्यास, 'आयरन हील' के उस पादरी की तरह जेल और पागलखाना ही उनकी जगह बनेगी, जो पहले नहीं जानता था कि दुनिया में गरीबी क्या है और जानने के बाद जब उसने उसके बारे में बोलना शुरू किया तो उसे पागलखाने में डाल दिया गया।

पूँजीवादी व्यवस्था में जमीर एक बिकाऊ माल है और बाजार में खुलेआम खरीदा

राष्ट्रपति की न्याय प्रणाली मुँह पर जड़ा तमाचा है और आह छिपी हुई

जाहिरा शेख ने झूठ क्यों बोला? बयान क्यों बदले?

जाहिरा के समाने दो विकल्प थे। एक विकल्प था, उसके बचे-खुचे परिवार को नरेन्द्र मोदी और उसके गुण्डे बोटी-बोटी काटकर साबरमती के गन्दे पानी में फेंक देंगे और दूसरा था, उसे कुछ लाख रुपये मिल जायेंगे जो उसके और उसके बचे-खुचे परिवार के जीविकोपार्जन का साधन बन सकते हैं। यही दो विकल्प उसके सामने थे। उसे तय करना था कि उसे मरना है या जीना है। उसने जीने का विकल्प चुना। यह कोई अपराध नहीं है। जीना हर हाल में श्रेयस्कर है।

कहना मुश्किल है कि अगर यही दोनों विकल्प तिस्ता सीतलवाड़ या उनके जैसे लोगों के सामने रख दिये जायें तो वे क्या करेंगे? उनके प्रति बहुत उदारतापूर्वक सोचने पर भी यही कहा जा सकता है कि वे भी जीने का ही विकल्प चुनेंगे। यही विकल्प वाजपेयी, मनमोहन, सोनिया गाँधी, देश के सेनापति, जनरल और न्यायपालिका के शीर्ष पदों पर बैठे लोग भी चुनेंगे। अपने बात को साबित करने के लिए हम कुछ तथ्य प्रस्तुत करना चाहते हैं।

क्या एक प्रधानमन्त्री का रोज, सुबह-शाम बयान बदलना झूठ नहीं है? यहाँ तो मरने-जीने का भी विकल्प नहीं है, मात्र कुर्सी का सवाल है। सोनिया गाँधी ने अपने पारिवारिक मित्र क्वात्रोची को 21 करोड़ रुपये का उपहार दिया और सोनिया को बचाने के लिए भारत के प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने झूठ का सहारा लिया– यहाँ तो जीने-मरने का सवाल भी नहीं था, फिर मनमोहन सिंह ने झूठ क्यों बोला? बेंकटरमण जब वित्तमन्त्री थे तो बोफोर्स मामले में राजीव गाँधी को बचाने के लिए उन्होंने संसद में झूठ बोला। बाद में वे राष्ट्रपति भी बने। क्या संसद में झूठ बोलना अपराध नहीं है? लेकिन वे तो झूठ बोलने के लिए पुरस्कृत हुए। संसद में अपना बहुमत साबित करने के लिए नरसिम्हारव ने सांसदों को करोड़ों रुपये देकर खरीदा। रोज होने वाली इस खरीद-फरोख्त का भागी हमारा समाज जाहिरा शेख को ही क्यों सजा दे रहा है?

जमीर क्यों बिका ?

सोनिया गाँधी ने अपने पारिवारिक मित्र क्वात्रोची को 2006 में नये साल के अवसर पर 21 करोड़ रुपये का तोहफा दिया है। सोनिया-मनमोहन सरकार कहती है कि सी.बी.आई. ने यह सब अपने-आप किया, सरकार को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। सी.बी.आई. ने अपने-आप ही उसके खाते से पैसा निकालने पर लगी रोक हटवा दी।

जनता की अदालत इसे झूठ समझती है। काफी दिनों के मौन के बाद राजनीतिज्ञों में युधिष्ठिर मनमोहन सिंह ने सोनिया का समर्थन किया कि सरकार का इसमें कोई हाथ नहीं है। मनमोहन सिंह ने अपना ज़मीर बेच दिया।

किसके लिए बेचा? पैसे के लिए?

–नहीं!

नेहरू परिवार के प्रति अपनी निष्ठा के लिए?

–शायद नहीं!

कुर्सी के लिए?

–शायद हाँ!

हमारी सेनाओं में कार्यरत जनरल, ब्रिगेडियर और कर्नल लाख-दो लाख-चार लाख पर सरेआम बिकते हुए टी.वी. पर दिखाये गये, क्या यह अपराध नहीं है। भाजपा के अध्यक्ष लाख-दो लाख घूस लेते पाये गये, क्या यह अपराध नहीं? इस देश के राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों, पूँजीपतियों और सम्मानित अपराधियों के बारे में तो कहना ही क्या! करोड़ों की चोरी करने वाले और झूठ बोलने वाले देश का भविष्य तय करने वाली कमेटियों के अध्यक्ष बनाये जाते हैं। क्या करोड़ों -करोड़ की कर चोरी करने वाले बम्बइया फिल्मों के नायक और महायनायक तथा क्रिकेट के हीरो जिन्हें प्रचार माध्यम, सरकार और यह व्यवस्था नौजवानों और देश की भोली-भाली जनता के दिलों का हीरो बनाने की कोशिश करते हैं, झूठे और अपराधी नहीं हैं?

समाज के जिन प्रतिष्ठित अपराधियों को पद्मविभूषण और भारतरत्न से नवाजा जाता है क्या वे अपराधी नहीं हैं?

आज तक इनमें से किसी के शरीर पर खरोंच भी नहीं आयी लेकिन जाहिरा को न्यायपालिका ने सजा दे दी।

हालात इतने बिगड़ गये हैं कि न्यायपालिका के शीर्ष पर बैठे लोग भी पैसे हड़पने और भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद के ढेर सारे मामलों में लिप्त पाये गये हैं और उनकी निगरानी के लिए न्यायिक आयोग बैठाना पड़ रहा है।

इस देश के सारे कानून केवल गरीबों पर लागू होते हैं, अमीरों पर नहीं। एक बार इस देश की व्यवस्था के प्रति भ्रम पाले हुए एक ईमानदार वित्तमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने ललित सूरी को आर्थिक अपराध के लिए जेल की चारदीवारी में बन्द कर दिया तो चार दिनों में ही हंगामा होने लगा और तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने इसे जेल से बाहर कर दिया। भोपाल के गैस पीड़ितों को न्याय की गुहार लगाते 20 साल से ऊपर हो चुके हैं लेकिन आज तक उन्हें इन्साफ नहीं मिला। भोपाल काण्ड के मुख्य अपराधी वारेन एण्डरसन को जनता को कोप से बचाने के लिए बंगले में सुरक्षित रखा गया, हेलीकाप्टर से दिल्ली लाया गया और वहाँ से जहाज द्वारा अमरीका पहुँचा दिया गया। यहाँ की न्यायपालिका और सरकार उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। इस देश के गरीब यह जानना चाहेंगे कि उन्हें इन्साफ मिलेगा या नहीं? और इन्साफ पाने के लिए उन्हें क्या-क्या करना होगा? यह सरकार इसका उत्तर दे।

> अमरीका के राष्ट्रकवि और विचारक वाल्ट व्हिटमैन सरकार-विरोध के किसी मामले में जेल में थे। चिन्तक और विचारक इमर्सन उनसे मिलने गये।
>
> इमर्सन ने मजाक में उनसे पूछा-''तुम अन्दर!''
>
> वाल्ट व्हिटमैन ने जवाब दिया-''तुम बाहर!''
>
> उनका आशय था कि इस समाज व्यवस्था में केवल अपराधी ही जेल के बाहर रह सकते हैं। इमर्सन तुम तो अपराधी नहीं हो, फिर अभी तक बाहर कैसे हो?

इन सारी बातों के पीछे छिपा हुआ ध्रुव सत्य क्या है? हम इसकी छानबीन करने का प्रयास करेंगे। 19वीं सदी के सुविख्यात लेखक मार्क ट्वेन की एक लम्बी कहानी है, जिसका शीर्षक है-'वह आदमी जिसने हैडलेबर्ग को भ्रष्ट किया'। शीर्षक थोड़ा भ्रामक है, अनुवाद की भी त्रुटि हो सकती है। 19वीं सदी में अमरीका के एक कस्बे के लोगों को इस बात पर नाज है कि वहाँ के नागरिक ईमानदार, सच्चरित्र और लोभ-लालच से मुक्त हैं। एक आदमी वहाँ जाता है और उनकी परीक्षा लेता है। उस परीक्षा में सभी फेल होते हैं। पता यह चलता है कि समाज के उच्चपदस्थ लोगों सहित सभी लोग सोने की अशर्फियाँ पाने के लोभ का संवरण नहीं कर सके। वह साबित कर देता है कि सभी चोर हैं। कहानी का सन्देश यह है कि पूँजीवादी समाज में, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित इस समाज व्यवस्था में कोई ईमानदार नहीं है। जो समाज लोभ-लालच, मुनाफा, खुदगर्जी और लूट-पाट पर ही टिका हुआ है, उसमें झूठ-फरेब, प्रवंचना, आत्म-प्रवंचना, छल-छद्म और पाखण्ड सब कुछ हो सकता है। अगर कोई चीज नहीं हो सकती तो वह है-सच्ची ईमानदारी।

यही है भारत का समाज। सभी चोरी करते है, सभी झूठ बोलते हैं, चारों ओर छल-प्रपंच, पाखण्ड और प्रवंचना का राज है। गरीब अपनी रोटी के लिए झूठ बोलता है, पेट भरने के लिए एक रोटी चुरा लेता है, अगर वह ऐसा न करे तो यह समाज उसे जीने नहीं देगा। अमीर अपनी अय्याशी के लिए, धन बटोरने के लिए, अपनी सनक पूरा करने के लिए, प्रभुत्व, शोहरत और दम्भ के लिए चोरी करते हैं और झूठ बोलते हैं। लेकिन सजा यहाँ सिर्फ गरीबों को होती है और अमीरों को पुरस्कृत किया जाता है। यही है यह समाज। इसलिए अगर इस समाज में जाहिरा शेख के साथ ऐसा हुआ तो गरीबों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अमीर तो जानते ही हैं कि क्या होना है।

अगर जनता की अदालत बुलायी जाये और उसे फैसला देने के लिए कहा जाय तो वह निश्चित तौर पर नीचे लिखे शब्दों में अपना फैसला सुनायेगी।

जनता की अदालत जाहिरा शेख को बाइज्जत रिहा करती है और यह एलान करती है कि जाहिरा शेख ने कोई गलती नहीं की, अपराध की बात तो दूर। सरकारी खजाने से जाहिरा शेख को उचित हर्जाना दिया जाय ताकि वह और उसके परिवार के बचे-खुचे लोग अपना जीविकोपार्जन कर सकें और अमन-चैन से रह सकें।

साथ ही जनता की दालत यह फरमान भी जारी करती है कि मोदियों, वाजपेइयों, आडवाणियों, कार्यपालिका, न्यायपालिका और नौकरशाही के उच्च पदों पर बैठे लोगों और समाज के कर्णधारों को कठघरे में पेश किया जाय, तीन दिन के अन्दर इस मामले को निपटाया जाये और उन्हें कठोर-से-कठोर सजाएँ दी जायें। यही वे लोग हैं जो इस भेदभावपूर्ण, अन्यायपूर्ण और शोषणकारी व्यवस्था को बनाये रखने वाले स्तम्भ हैं।

जब तक इनका राज रहेगा, गरीबों को इन्साफ नहीं मिल सकता । □

तथ्यों की भी जुबान होती है, वे बोलते हैं।

27.2.02 : गोधरा स्टेशन के पास साबरमती एक्सप्रेस के एस-6 कोच को बदमाशों ने आग लगा दी जिसमें 56 लोग मारे गये।

28.2.02 : विश्व हिन्दू परिषद द्वारा बन्द का आह्वान, भाजपा द्वारा बन्द को समर्थन, गुजरात में बड़े मैमाने पर हिंसा का ताण्डव।

1.3.02 : शाम 8.30 बजे से लेकर अगले दिन सुबह 10 बजे तक 150-200 हिन्दुओं की एक भीड़ ने बड़ोदरा में बेस्ट बेकरी पर हमला बोला। हमले में 14 लोग मारे गये। पुलिस ने कोई मदद नहीं की।

2.3.02 : मुख्य चश्मदीद गवाह जाहिरा शेख ने, जिसके परिवार के कई सदस्य इस हत्याकाण्ड में मारे गये, पुलिस के समाने कुछ स्थनीय अपराधियों को नामजद करते हुए बयान दिया। बहुत से दूसरे चश्मदीद गवाहों ने भी अपराधियों को नामजद करते हुए बयान दिये।

जाहिरा शेख ने अपराधियों को नामजद करते हुए प्रेस में बयान दिया और समाचार माध्यमों को साक्षात्कार भी दिये। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के समक्ष भी जाहिरा ने यह प्रमाण दिया कि वह अपराधियों की पहचान कर सकती है।

2.3.02 : जाहिरा शेख ने पी.यू.सी.एल. (पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज) की शान्ति अभियान टीम के समक्ष अपराधियों के नाम लेते हुए गवाही दी।

27.3.02 : केस में पहली गिरफ्तारियाँ हुईं, वो भी तब, जब यह मुद्दा दिल्ली में उठाया गया।

1.4.02 : राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट, जिसमें बेस्ट बेकरी हत्याकाण्ड की जाँच सी.बी.आई. से करवाने की सिफारिश की गयी।

11.5.02 : जाहिरा शेख ने बड़ोदरा के कन्सर्नड सिटिजन्स ट्रिब्युनल (चिन्तित नागरिकों की अदालत) के समक्ष भी अपराधियों की पहचान की।

जून 02 : बेस्ट बेकरी काण्ड का आरोप-पत्र दाखिल किया गया।

जाहिरा शेख ने फिर बयान दिया कि हालाँकि उसके द्वारा नामजद बहुत से अपराधियों के नाम आरोप-पत्र में शामिल किये गये हैं लेकिन उनमें से एक नाम शामिल नहीं किया गया है।

मई 03 : माह के शुरू में जाहिरा शेख और उसके परिवार के लोगों को धमकियाँ मिलीं हैं कि वे अदालत में अपराधियों की शिनाख्त न करें।

7.5.03 : जाहिरा शेख के भाई और बहन ने डर के मारे अदालत में उल्टी गवाही दी। जाहिरा और उसके परिवार को धमकियाँ मिलती रहीं।

17.5.03 : जाहिरा की अदालत मैं गवाही। उसे अदालत में धमकी दी गयी। पूरी अदालत धमकाने वाली भीड़ से खचाखच भरी थी जिसमें मधु श्रीवास्तव और चन्द्रकान्त श्रीवास्तव भी शामिल थे। धमकियों और शत्रुतापूर्ण माहौल के चलते जाहिरा शेख ने भी बयान बदल दिया।

आगे आने वाले गवाहों ने भी बयान बदले। इस पूरे समय में सरकारी वकील ने गवाहों की कोई मदद नहीं की। सरकारी वकील ने उनके पिछले बयानों को उनके सामने तक नहीं रखा। सम्मानित जज ने यह पता लगाने के लिए गवाहों से एक सवाल तक नहीं पूछा कि उन्होंने बयान क्यों बदले।

27.5.03 : सत्र न्यायालय ने सभी आरोपियों को निर्दोष ठहराते हुए फैसला सुनाया; उसमें इस बात की चर्चा तक नहीं की गयी कि इतने सारे गवाह अपने बयानों से क्यों मुकर गये।

11.7.03 : जाहिरा शेख ने बयान दिया कि डराये-धमकाये जाने के कारण वह बयान बदलने के लिए बाध्य हुई।

18.7.06 : जाहिरा ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के सामने अपना बयान दोहराया कि धमकियों से डरकर वह अपना बयान बदलने के लिए बाध्य हुई।

जुलाई 03 : दूसरे गवाहों ने भी उन परिस्थितियों को बताते हुए शपथपत्र दाखिल किये जिनके कारण वे बयान बदलने को बाध्य हुए थे।

7.8.03 : गुजरात सरकार ने गुजारात उच्च न्यायालय में एक याचिका-क्रिमिनल अपील नं. 956, 2003-दायर की। लेकिन उसमें केस को दोबारा खोलने या मामले की दोबारा जाँच करवाने की बात नहीं की गयी थी।

8.8.03 : सुप्रीम कोर्ट ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की विशेष अवकाश याचिका (स्पेशल लीव पेटीशन) को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत सुनवाई के लिए दाखिल कर लिया। 27.6.03 के सत्र न्यायालय के निर्णय को चुनौती देते हुए जाहिरा शेख ने 2003 की विशेष अवकाश याचिका (क्रिमिनल) नं. 3770 को अदालत में दाखिल किया।

1.9.03 : जाहिरा ने 27.6.03 को ट्रायल कोर्ट द्वारा जारी आदेश के खिलाफ भी एक विशेष अवकाश याचिका दायर की। सुप्रीम कोर्ट ने इस पर नोटिस जारी किया और इस याचिका को मानवाधिकार आयोग की याचिका के साथ नत्थी कर दिया।

19.9.03 : मानवाधिकार आयोग द्वारा दायर केस में अदालत ने डी.जी.पी. गुजरात और मुख्य सचिव गुजरात के मौखिक बयान लिये।

9.10.03 : सुप्रीम कोर्ट की जाँच के दौरान गुजरात सरकार गुजरात हाईकोर्ट के सामने पेश की गयी अपील फाइल को संशोधित करने के लिए सहमत हो गयी। इस काम के

लिए सुप्रीम कोर्ट ने श्री साल्वे को पर्यवेक्षक बनाया।

21.11.03 : सुप्रीम कोर्ट ने 9 विचाराधीन मामलों में कार्रवाई रोकने का आदेश (स्टे) दिया। किडियाड हत्याकाण्ड के मामले में दायर विशेष अवकाश याचिका पर भी सम्मन जारी किये गये जिसमें 84 लोग मारे गये थे और आरोपी बरी कर दिये गये थे। यह याचिका न्याय और शान्ति के लिए संघर्षरत नागरिकों (सिटीजनस फॉर जटिस एण्ड पीस) की ओर से दायर की गयी थी।

29.11.03 : सत्र न्यायालय के 27.6.03 के आदेश को चुनौती देते हुए जाहिरा शेख की बहन ने गुजरात उच्च न्यायालय के समक्ष पुनर्विचार याचिका नं 583, 2003 दायर की।

19.12.03 : जाहिरा के बहन की पुनर्विचार याचिका को खारिज करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय का पहला निर्णय, हालाँकि इसे बोर्ड पर दर्शाया नहीं गया था क्योंकि पुनर्विचार याचिका दायर करने में 63 दिन से ज्यादा देरी हो जाने की वजह से इस पर पहले ही ऑफिस की ओर से आपत्ति दर्ज थी। मुख्य दलील यह थी कि गुजरात सरकार पहले ही कोर्ट के समक्ष याचिका दायर कर चुकी है। फिर भी जाहिरा शेख की बहन के वकील को एडवोकेट नजरल के सहायक के तौर पर काम करने की इजाजत दी गयी। लेकिन वह न तो शपथपत्र दे सकता था, कोई लिखित समाग्री जमा कर सकता था और न ही उसे मामले पर बहस की इजाजत थी।

26.12.03 : गुजरात सरकार की याचिका को उच्च न्यायालय ने खारिज कर दिया। उसने सुप्रीम कोर्ट में दिये गये शपथपत्र को अपने रिकार्ड में लेने से इन्कार कर दिया और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के समक्ष दिये गये बयान को विश्वसनीय नहीं माना। सामाजिक कार्यकर्ताओं और नागरिक समूहों/स्वयंसेवी संगठनों को असामाजिक और राष्ट्र-विरोधी बताते हुए उनके ऊपर अपमानजनक टिप्पणी की।

29.12.03 : राज्य सरकार के वकील, एडवोकेट जनरल ने लिखित दलीलों की एक प्रति आरोपियों के वकील को सौंपी।

1.1.04 : आरोपियों की ओर से लिखित उत्तर अदालत में जमा किये गये।

12.1.04 : फैसला उपलब्ध करवाया गया।

28.1.04 : जाहिरा शेख ने सुप्रीम कोर्ट में विशेष अवकाश याचिका दायर की।

30.1.04 : जाहिरा की याचिका मंजूर करके कोर्ट ने नोटिस जारी किया। मानवाधिकार आयोग द्वारा दायर केस में सुनवाई के दौरान राज्य सरकार ने सुप्रीम कोर्ट को भरोसा दिलाया कि वह गुजरात उच्च न्यायालय के निर्णय के खिलाफ याचिका दायर करेगी।

12.4.04 : सुप्रीम कोर्ट ने मुम्बई सत्र न्यायालय को इस केस में दोबारा मुकदमा चलाने के निर्देश दिये और गुजरात कोर्ट द्वारा बरी सभी 21 अपराधियों को फिर से हाजिर होने का आदेश दिया।

नवम्बर 04 : एक प्रेस कान्फ्रेंस में जाहिरा ने आरोप लगाया कि सुश्री तिस्ता सीतलवाड़ और उनके सहयोगियों ने उसे ध मकाया, बन्धक बनाकर रखा और अपने वश में कर लिया। उससे चश्मदीद गवाह के रूप में जो भी कहलवाया गया वह सब गलत है। इस प्रेस कान्फ्रेंस के समय भी एम.एल.ए. मधु श्रीवास्तव मौजूद था।

24.2.06 : बेस्ट बेकरी मामले में मुम्बई सत्र न्यायालय का फैसला। 4 अपराधी अन्त तक अदालत में पेश नहीं हुए। 17 हाजिर अपराधियों में से 8 सबूतों के अभाव में बरी, 9 को उम्रकैद की सजा।

8.3.06 : कोर्ट द्वारा बैठायी गयी एक जाँच की रिपोर्ट के आध ार पर बिना सफाई का मौका दिये सुप्रीम कोर्ट ने जाहिरा शेख को झूठ बोलने और बयान बदलकर कोर्ट की अवमानना करने के जुर्म में एक साल की कैद और 50 हजार रुपये जुर्माने की सजा सुनायी।

रिपोर्ट में ''पैसे के लेन-देन'' और ''डराने-धमकाने के तथ्य'' को स्वीकारा गया। एम.एल.ए. मधु श्रीवास्तव द्वारा जाहिरा के भाई को किये गये फोन कॉल और तहलका द्वारा तैयार जाहिरा को पैसा दिये जाने सम्बधी मधु श्रीवास्तव और उसके भाई के बीच बातचीत की रिकार्डिंग जैसे साक्ष्यों के मौजूद होने के बावजूद सुप्रीम कोर्ट ने उसके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की, ''हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि हम कार्रवाई शुरू करने का निर्देश नहीं दे रहे हैं, बल्कि इस मामले को आयकर अधि कारियों के निर्णय पर छोड़ रहे हैं।''

10.3.06 : मुम्बई सत्र न्यायालय में हाजिर होकर जाहिरा शेख ने दरख्वास्त दी कि उसे महाराष्ट्र की जेल में डाला जाय क्योंकि गुजरात में उसकी जान को खतरा है।

30.3.06 : जाहिरा शेख की याचिका स्वीकार कर ली गयी।

पानी, पूँजी, मुनाफा और साम्राज्यवाद : भारतीय शासकों की जनविरोधी नीतियाँ

–दिगम्बर

7.4.06 : मुम्बई सत्र न्यायालय ने कहा कि वह जाहिरा शेख द्वारा दिये गये झूठे बयानों की असलियत जानने के लिए एक जाँच बैठायेगा।

पानी का संकट आज पूरी दुनिया में विकट रूप धारण करता जा रहा है। इस संकट के प्रति शासकों का उपेक्षापूर्ण रवैया, इसका हौवा खड़ा करके पानी को मुनाफाखोरी का साधन बनाने के लिए सरकारों और पूँजीपतियों की घिनौनी साजिशें तथा पानी बचाने के लिए जगह-जगह जनता का प्रतिरोध हमारे दौर की जवलन्त सच्चाई है। बोलीविया के कोचाबाम्बा से लेकर फ्रांस के ग्रेनोबल तक और केरल के प्लाचीमाड़ा से राजस्थान के कालाडेरा तक, पानी के धन्धे में लगी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों बेकटेल, स्वेज, कोका कोला और पेप्सी-को के खिलाफ जनता ने जबरदस्त लड़ाई लड़ी। पिछले वर्ष दिल्ली जल बोर्ड को विदेशी कम्पनियों के हाथों सौंपने और पानी का निजीकरण करने की दिल्ली सरकार और विश्व बैंक की साजिश पर भी वहाँ के नागरिक संगठनों ने पानी फेर दिया।

पानी इन्सान और इन्सानियत के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है। नदी, झरने, तालाब, झील, वर्षा और भूजल के रूप में प्रकृति ने मानवजाति को जो अनमोल उपहार दिया है, उस पर सबका समान अधिकार है। जाहिर है कि इसका उपयोग और हिफाजत भी सामूहिक और सार्वजनिक रूप से ही होनी चाहिए। मुट्ठी-भर लोग इसे अपनी निजी सम्पत्ति और निजी मुनाफे का साधन बनायें, यह सर्वथा अनुचित, अनैतिक और अन्यायपूर्ण है। लेकिन बिडम्बना यह है कि अन्य सभी प्राकृतिक संसाधनों की तरह पानी भी आज निजी स्वार्थों की गिरफ्त में है और थोड़े से लोगों की खुदगर्जी पूरी मानवता के विनाश का कारण बनती जा रही है।

समस्या क्या है?

पानी का मौजूदा संकट कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की बेलगाम लूट-खसोट, प्राकृतिक जल-स्रोतों के बेहिसाब दोहन और सरकारों द्वारा लम्बे अरसे से इस समस्या की अनदेखी का नतीजा है।

पूँजीवाद के मौजूदा दौर में विकास के नाम पर अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण और शहरीकरण ने पानी के प्राकृतिक सन्तुलन को चौपट कर दिया। फैक्ट्रियाँ और कारखाने पूँजीपतियों के लिए बेहिसाब मुनाफा पैदा करते हैं जबकि आम जनता की जिन्दगी में लगातार जहर घोलते रहते हैं। उद्योगों से निकलने वाले कचरे और गन्दे पानी को बिना साफ किये नदियों, नालों और गड्ढों में बहाये जाने के कारण उनका पानी किसी काम का नहीं रह गया। साथ ही, रिस-रिस कर भूगर्भ जल में जा मिलने के चलते धरती के भीतर का पानी भी प्रदूषित होता गया। औद्योगिक इलाकों से गुजरने वाली सभी छोटी-बड़ी नदियाँ और बरसाती नाले आज पूरी तरह गटर-गंगा बन चुके हैं और उनके आसपास के पूरे इलाके का भूजल भी पीने लायक नहीं रह गया है। ऐसे नालों का पानी पीकर जानवरों के मरने और उनके आस-पास की जमीन बंजर हो जाने के मामले अक्सर सामने आते रहते हैं। इसके अलावा नलकूपों और कुँओं के प्रदूषित पानी से ऐसी नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं, जो लोगों को धीरे-धीरे मौत के मुँह में धकेलती रहती हैं।

हमारे देश में प्रदूषण नियन्त्रण के लिए एक सरकारी महकमा है, अधिकारी हैं और प्रदूषण फैलाने वालों के खिलाफ कानून भी है। यदि उस कानून को कड़ाई से लागू किया जाय तो देश के सारे जेलखाने उन पूँजीपतियों और मैनेजरों से भर जायेंगे। लेकिन देश में कानून तो सिर्फ गरीब जनता के लिए हैं। प्रदूषण नियन्त्रण के नाम पर कभी दिल्ली के हजारों लघु उद्योगों को उजाड़ दिया जाता है, तो कभी गाय-भैंस पालने वालों को राजधानी से खदेड़ दिया जाता है।

पानी के उपयोग का एक अन्य क्षेत्र सिंचाई व्यवस्था भी आजादी के बाद से ही सरकारी उपेक्षा का शिकार होती रही है। अगर सरकार ने नहरों और अन्य सार्वजनिक साधनों का तेजी से विस्तार किया होता तो आज हमें इस संकट का सामना नहीं करना पड़ता। लेकिन विस्तार की तो बात ही क्या, धीरे-धीरे पुरानी सार्वजनिक सिंचाई व्यवस्था की देख-रेख से भी सरकार ने ध्यान हटा लिया। विश्व बैंक और अन्य स्रोतों से सिंचाई के नाम पर जो विदेशी कर्जे लिये गये उनसे नहरों, छोटे-छोटे बाँधों और विविध प्रकार की लघु सिंचाई योजनाओं का विस्तार करने के बजाय उन्हें मुख्यत: बड़े-बड़े बाँध बनाने और किसानों को निजी नलकूप लगाने के लिए कर्ज और सहायता देने पर खर्च किया गया। अपने देश की विशेष भौगोलिक परिस्थिति को ध्यान में रखे बिना, विदेशों की अन्धी नकल करते हुए बड़ी निर्माण कम्पनियों, बड़े ठेकेदारों तथा पम्पिंग सेट और भारी मशीन के धन्धे में लगे पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने वाली इन सरकारी परियोजनाओं के चलते ही पानी का संकट दिनो-दिन गहराता चला गया। सार्वजनिक सिंचाई व्यवस्था का पर्याप्त विस्तार न होने का नतीजा यह हुआ कि निजी नलकूलों की संख्या तेजी से बढ़ती गयी। जैसे-जैसे भूजल-स्तर नीचे भागता गया, किसान अपने मोटर और पाइप नीचे सरकाते गये और मोटर का पावर भी बढ़ाते गये। फिर भी काम नहीं चला तो सबर्सिबल पम्प का प्रचलन बढ़ने लगा। सम्पन्न किसानों ने अपने लिए बेहतर से बेहतर निजी सिंचाई के साधन अपना लिए जिससे आस-पास के गरीब और मझोले किसानों के नलकूप और

सूखते गये। आने वाले दिनों में जब धरती के गर्भ में जमा पानी समाप्त हो जायेगा, तब क्या होगा? इस बात की चिन्ता जब सरकार और योजनाकारों को ही नहीं, तो अलग-अलग किसान भला परेशान क्यों हो?

आज देश के कई इलाकों में भूजल स्तर काफी तेजी से नीचे जा रहा है। पंजाब के होशियारपुर जिले में पहले 20 फुट पर पानी मिल जाता था, वहीं अब जलस्तर 325 फुट नीचे चला गया है और पानी निकालने के लिए 160 फुट नीचे मोटर रखना पड़ता है। आन्ध्र प्रदेश में चन्द्र बाबू नायडू ने सिंचाई विभाग को बन्द करके सार्वजनिक सिंचाई व्यवस्था को ठप्प कर दिया। नतीजतन किसानों को लाखों की संख्या में निजी नलकूप लगाने पड़े। वहाँ नालगोण्डा जिले के मुशमपल्ली गाँव में जितने परिवार नहीं उससे कहीं ज्यादा नलकूप हैं। भूजल की तबाही के चलते वहाँ के कई धनाढ्य किसान भी दिवालिया हो गये क्योंकि अब वे चाहे जितना भी नीचे पाइप ले जायें, जमीन से पानी नहीं आता।

पूँजीवादी दौड़ के कारण पिछले कुछ दशकों में शहरों की आबादी भी तेजी से बढ़ती गयी। दिल्ली-मुम्बई जैसे महानगरों की आबादी आज कई छोटे देशों की तुलना में ज्यादा है। इतनी बड़ी आबादी को पानी की आपूर्ति करने के लिए सुदूरवर्ती इलाकों से पानी लाना पड़ता है। गाँवों के हिस्से का पानी शहरों की ओर ले जाना अक्सर ही क्षेत्रीय तनाव का कारण बनता रहा है। इसका एक उदाहरण तमिलनाडु की विरनम परियोजना है। विश्व बैंक के कर्ज से तैयार हो रही इस भारी भरकम परियोजना के तहत चेन्नई को जलापूर्ति के लिए 235 कि.मी. का रास्ता तय करके विरनम ताल से पानी आना था। किसानों के आन्दोलन के बाद तमिलनाडु सरकार ने इसे वापस ले लिया। इसीतरह दिल्ली के सोनिया विहार प्लाण्ट के लिए उत्तरांचल और उत्तर प्रदेश से होकर गंग नहर का पानी आना था, जो अभी भी ठप्प पड़ा है।

शहरों में सीमित मात्रा में उपलब्ध पानी के असमान बटवारे को लेकर भी अक्सर ही तनाव पैदा होते रहते हैं। एक तरफ गोल्फ कोर्स, स्विमिंग पूल और वाटर पार्क के लिए बेहिसाब पानी की आपूर्ति, तो दूसरी और गरीब मोहल्लों में पानी ही हमेशा किल्लत। गर्मियों का मौसम आते ही पानी को लेकर शहरों में जनाक्रोश और जनान्दोलनों का सिलसिला शुरू हो जाता है। किसी दूरगामी योजना के अभाव और शासकों की लापरवाही के कारण शहरों में जलापूर्ति की समस्या दिनो-दिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। दिल्ली और अन्य महानगरों में स्थिति फिर भी बेहतर है। छोटे-मझोले शहर तो नरक के पर्याय बनते जा रहे हैं, जहाँ सार्वजनिक जलापूर्ति और जलनिकासी की व्यवस्था या तो है ही नहीं या है भी तो जर्जर अवस्था में है।

जब शहरों की दशा ऐसी है तो भला गाँव का क्या हाल होगा। सन 2000 के बजटभाषण में वित्तमन्त्री ने स्वीकार किया था कि देश के साढ़े चार लाख (यानी 75 फीसदी) गाँवों में पीने के पानी की समस्या है। सरकार ने 2005 तक सभी गाँवों में साफ पानी पहुँचाने का लक्ष्य रखा था। जब 2005 में यह लक्ष्य पूरा नहीं हुआ तो सरकार ने 2009 की तारीख डाल दी। पिछली जनगणना में किया गया परिवारों का सर्वे बताता है कि देश में 62% परिवारों को पीने का साफ पानी मयस्सर नहीं। लगभग 50 लाख परिवारों को तो कुँए और हैण्डपम्प का पानी भी दुर्लभ है। वे तालाब, पोखरा, नदी या झरने का गन्दा पानी पीने को अभिशप्त हैं। देश में कई इलाके तो ऐस हैं, जहाँ के निवासी पानी के अभाव में गाँव छोड़कर दर-दर भटकने के लिए मजबूर हैं।

पानी के संकट का एक आयाम यह भी है कि आजादी के बाद से ही पानी को लेकर पड़ोसी देशों, देश के भीतर अलग-अलग राज्यों और राज्य के भीतर विभिन्न इलाकों और जनसमुदायों के बीच आये दिन विवाद पैदा होता रहा है। कोसी बाँध को लेकर नेपाल, फरक्का बाँध को लेकर बंग्लादेश और सिन्धु नदी के पानी को लेकर पाकिस्तान के साथ विवाद खड़ा हुआ। राज्यों के बीच सबसे पुराना और तीखा विवाद कावेरी जल बँटवारे को लेकर तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच है जो अभी भी सुलझ नहीं पाया है। इसके अलावा अलमाट्टी बाँध पर आन्ध्र-प्रदेश और कर्नाटक के बीच, काबिनी नदी को लेकर केरल और कर्नाटक के बीच, रावी-व्यास के पानी पर पंजाब, हरियाणा और राजस्थान के बीच आये दिन गर्मा-गर्मी होती रहती है। अभी हाल ही में गंगा के पानी के लिए उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश और दिल्ली के बीच भी नया विवाद सामने आया। गर्मी के मौसम में गाँवों-शहरों, गली-मोहल्लों में पानी के लिए अक्सर ही खून-खराबा होता रहता है।

पानी का वर्तमान बहुआयामी संकट हमारे देश के शासकों की उपेक्षा और अकर्मण्यता के चलते उत्तरोत्तर गम्भीर होता गया। उनकी अदूरदर्शी नीतियों ने इस समस्या का कारगर और टिकाऊ हल ढूँढने के बजाय उसे और अधिक उलझाने में ही योगदान किया। सरकार द्वारा पानी को साम्राज्यवादी पूँजीवादी लुटेरों को सौंपने का फैसला कोढ़ में खाज के समान है।

पानी: पूँजीपतियों के लिए कारू का खजाना

आर्थिक ठहराव और असाध्य संकट से ग्रस्त विश्व पूँजीवाद अपने मुनाफे के लिए नये-नये क्षेत्रों की तलाश कर रहा है। पानी का व्यापार पूँजीनिवेश का एक नया क्षेत्र, मुनाफाखोरों के लिए कारू का खजाना है। उनकी निगाह में पानी ब्लू गोल्ड (नीला सोना) है जिसे बेच कर वे भरपूर

मुनाफा कमा सकते हैं।

विश्व बैंक ने 1998 में यह अनुमान लगाया था कि जल्दी ही दुनिया-भर में पानी का व्यापार 800 अरब डॉलर यानी 36,000 अरब रुपये हो जायेगा। 2001 में उसका यह अनुमान बढ़कर 1000 अरब डॉलर हो गया। यह तो तब है, जब निजी पूँजीपति दुनिया की केवल 5 फीसदी जनसंख्या को ही पानी बेच रहे हैं। जैसे-जैसे पानी की खरीद-बिक्री का दायरा बढ़ेगा, वैसे-वैसे इस धन्धे में हजारों अबर डॉलर का वारा-न्यारा होने लगेगा।

भारत में पानी का बजार लगभग 50 अरब रुपये का है, जिसके बड़े भाग पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। 1999 से 2004 के बीच बोतल में बिकने वाले पानी की खपत डेढ़ अबर लीटर से बढ़कर पाँच अरब लीटर हो गयी। यह अनुमान बड़ी कम्पनियों की बिक्री पर आधारित है, जबकि एक-एक कमरे में ट्यूबवेल और फिल्टर प्लाण्ट लगाकर पानी बेचने वाले छोटे खिलाड़ियों का कोई लेखा-जोखा नहीं। दिल्ली के गली-मोहललों में ही सैकड़ों की तादाद में पानी के छोटे व्यापारी हैं। यही हाल छोटे शहरों और कस्बों का भी है, जहाँ सार्वजनिक जलापूर्ति की जर्जर हालत का फायदा उठाकर कुकुरमुत्ते की तरह पानी बेचने वाले पैदा हो रहे हैं और पानी के बाजार का क्षैतिज विस्तार कर रहे हैं।

दुनिया-भर के पूँजीपतियों के लिए भारत पानी के धन्धे के लिए काफी फायदेमन्द जगह है। यहाँ का कानून कहता है कि जो आदमी जमीन का मालिक है वही उस जीमन के नीचे के पानी का भी मालिक है। मतलब यह कि कोई आदमी दो गज जमीन खरीद कर उस पर नलकूप लगा ले तो उस इलाके का सात भूजल उस का हो जायेगा। पार्ले, बिसलरी, कोका-कोला और पेप्सी जैसी कम्पनियाँ इस कानून का भरपूर लाभ उठा रही हैं। कोका कोला और पेप्सी अमरीका की कम्पनियाँ हैं जहाँ पानी की लागत 21 रुपये प्रति हजार लीटर है जबकि भारत में लगभग उन्हें मुफ्त पानी मिलता है। इसके लिए ये कम्पनियाँ राज्य प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड को केवल 14 पैसा प्रति हजार लीटर उपकर देती हैं। इस हिसाब से देखें तो भारत की तुलना में अमरीका में उन्हें पानी के उपभोग के लिए 150 गुना अधिक खर्च करना पड़ता है।

पानी के धन्धे में लगी देशी-विदेशी कम्पनियाँ कितना भारी मुनाफा बटोर रही हैं उसे दिल्ली स्थित 'सेण्टर फॉर साइन्स एण्ड इन्वायरनमेण्ट' संस्था द्वारा की गयी एक बोतल पानी पर कुल लागत खर्च और कीमत की गणना से समझा जा सकता, जिसे बाक्स में दिया गया है। यह इस बात की भी जिन्दा मिसाल है कि दुनिया-भर के पूँजीपति क्यों हमारे जलस्रोतों की ओर अपनी जीभ लपलपाते हुए भाग रहे हैं।

पानी के व्यावसायीकरण की घिनौनी साजिशें

हमारे देश में पानी के व्यावसायीकरण के लिए विश्व बैंक 1990 के दशक से ही सरकार के साथ साँठ-गाँठ कर रहा है। 1998 में विश्व बैंक और भारत सरकार की संयुक्त रिपोर्ट 'द इरिगेशन सेक्टर' (सिंचाई क्षेत्र), 2002 की सरकार की 'राष्ट्रीय जलनीति' और 2005 की विश्व बैंक की रिपोर्ट 'इण्डियाज वाटर इकोनोमी: ब्रेसिंग फॉर ए टर्बुलेण्ट फ्यूचर' (भारत की जल अर्थव्यवस्था: एक अशान्तिपूर्ण भविष्य के लिए तैयारी) इस षड़यन्त्र के दस्तावेजी प्रमाण हैं। इन रिपोर्टों में पानी की समस्या को काफी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है, लेकिन समाधान के रूप में घुमा-फिरा कर सब में एक ही बात है—पानी को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करो। विश्व बैंक और भारत सरकार, दोनों का एक ही नारा है—पानी का व्यावसायीकरण।

विश्व बैंक रिपोर्ट-2005 को भारत सरकार न केवल पूरी तरह स्वीकार करती है, बल्कि पहले से ही टुकड़े-टुकड़े में उसके सुझावों को लागू कर रही है। इसलिए सरकार के इरादों को जानने के लिए इस रिपोर्ट के बुनियादी मुद्दों पर गौर करना जरूरी है।

इस रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत पानी के मामले में एक अशान्तिपूर्ण भविष्य की ओर बढ़ रहा है। जलापूर्ति के पुराने ढाँचे की देख-रेख या नये ढाँचे के निर्माण के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है। साथ ही, खेती, उद्योग और नागरिकों के उपभोग के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी भी देश में नहीं है।

सच पूछा जाय तो ये दोनो ही बातें सरासर झूठ हैं, जो निजीकरण और विदेशी दखलन्दाजी को तर्कसंगत ठहराने के लिए गढ़े गये हैं। सरकार के पास न तो धन का अभाव है और न ही हमारे यहाँ पानी की कमी है। असली समस्या सरकार की गलत प्राथमिकता, उसकी अमीरपरस्त नीतियाँ और कुशासन है।

इन्हीं गलत तथ्यों को आधार बनाकर विश्व बैंक ने पानी

एक बोतल पानी बनाने की लागत

बोतल का ढक्कन	0.25 रु.
बोतल की कीमत	1.50-2.50 रु.
पानी की सफाई	0.10-0.25 रु.
लेबुल छपाई	0.15-0.25 रु.
गत्ते का डिब्बा	0.50 रु.
ढुलाई भाड़ा	0.10-0.25 रु.
अन्य खर्चे	0.25 रु.
कुल खर्च	2.85-4.25 रु.
(मजदूरी, बाजार में बिक्री और टेक्स छोड़कर बेचने की कीमत)	10.00-12.00 रु.

के स्रोतों के इन्तजाम, सिंचाई, पनबिजली और साफ-सफाई के मद में भारत को दिया जाने वाला सालाना कर्ज 9 अरब रुपये से बढ़ाकर 36 अरब रुपये करने की पेशकश की है। इस कर्ज-कृपा के साथ बैंक ने यह शर्त भी थोप दी है कि उन्ही परियोजनाओं को कर्ज मिलेगा जिनमें पूँजीनिवेश करने से भरपूर मुनाफा होगा और जिनमें सुधारों (निजीकरण-व्यावसायीकरण) की प्रक्रिया अपनायी जायेगी।

रिपोर्ट में बड़े बाँधों की जबरदस्त वकालत की गयी है और नाप्था-झाखरी (हिमाचल प्रदेश) में दूसरी सुरंग के निर्माण का ठोस प्रस्ताव दिया गया है।

कहने को तो यह रिपोर्ट पानी पर है लेकिन इसमें आर्थिक सुधारों (वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण) की भरपूर वकालत की गयी है। विश्व बैंक का मानना है कि पानी के क्षेत्र में आर्थिक सुधार लागू करना देश के विकास की जरूरी शर्त है। इस काम में भारत सरकार की लापरवाही को रेखांकित करते हुए यह एलान किया गया है कि अपने कर्जे से चलने वाली जल परियोजनाओं में विश्व बैंक खुद ही ऐसे अधिकारियों और सलाहकारों की नियुक्ति करेगा जिन्हें आर्थिक सुधार लागू करने का प्रत्यक्ष अनुभव हो।

हमारे देश में जल संकट हो बढ़ाने में विश्व बैंक की परियोजनाओं का काफी हाथ रहा है। अब उसी संकट को हल करने के बहाने विश्व बैंक पिछले दरवाजे से पानी का व्यावसायीकरण करने तथा जलापूर्ति और सिंचाई व्यवस्था को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपने के लिए कर्ज देने और दबाव बनाने का हथकण्डा अपना रहा है।

विश्व बैंक की इस रिपोर्ट की सिफारिशों को पिछले वर्ष दिल्ली में आजमाने का प्रयास किया गया जिसे जनता के प्रबल दबाव के कारण वापस से लिया गया। देश-भर में जहाँ-जहाँ भी विश्व बैंक की परियोजनाएँ चल रही हैं, वहाँ-वहाँ पानी के व्यावसायीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, जैसे उत्तरांचल की स्वजल परियोजना, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश की सिंचाई परियोजना या कई शहरों में जलापूर्ति की नयी योजनाएँ, इत्यादि।

भारत में पानी के व्यवसायीकरण की जो कवायद हो रही है वह विश्वव्यापी साम्राज्यवादी रणनीति का अंग है, जिसका मकसद पूरी दुनिया के जल संसाधनों पर कब्जा जमाना है। इसी वर्ष मार्च महीने में मेक्सिको शहर में 'वर्ल्ड वाटर फोरम' (विश्व जल मंच) का आयोजन किया गया जिसमें विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और क्षेत्रीय बैंकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कोका-कोला कम्पनी इसके प्रमुख प्रायोजकों में से एक थी। इसके पीछे 'वर्ल्ड वाटर कौंसिल' (विश्व जल परिषद) नामक साम्राज्यवादी संस्था का भी महत्वपूर्ण हाथ था जिसमें पानी के धन्धे में लगी स्वेज, विवेण्डी और टेम्स जैसी कुख्यात, दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, दुनिया की सबसे बड़ी कंस्ट्रक्शन कम्पनियाँ, कन्सल्टेन्सी कम्पनियाँ और पानी के करोबार में लगी दुनिया की अनेक छोटी-बड़ी कम्पनियाँ शामिल हैं।

'विश्व जल परिषद' और 'विश्व जल मंच' कोई मान्य अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ नहीं हैं, जैसा कि उनके नाम से ध्वनित होता है, बल्कि पूँजीपतियों के स्वतन्त्र जमघट हैं। दुनिया-भर के डाकुओं और लुटेरों की ये संस्थाएँ न तो किसी भी तरह के प्रतिनिधियों की संस्थाएँ हैं और न ही किसी के प्रति जवाबदेह हैं। फिर भी ये विभिन्न देशों के मन्त्रियों, नेताओं, अधिकारियों और स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े विशेषज्ञों को इन आयोजनों में शामिल होने का न्यौता देती हैं और उनका सारा खर्चा-पानी भी खुद उठाती है। सबको पता है कि पूँजीपति चरम स्वार्थी होते हैं और वे किसी को एक कौड़ी भी मुफ्त में नहीं देते। उनकी सदाशयता और आव-भगत का उद्देश्य दुनिया के विभिन्न देशों के शीर्षस्थ लोगों को अपने पक्ष में मिलाकर उन देशों में पानी के निजीकरण का माहौल तैयार करवाना तथा सिंचाई, बाँध, जलापूर्ति आदि के ठेके हथियाना होता है।

पानी पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हमला और जनता का प्रतिरोध

पानी के स्रोतों पर कब्जा करने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दुनिया-भर में अपना जाल फैला रही हैं लेकिन प्राय: सभी जगह उन्हें जनता के जबरदस्त प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। लातिन अमरीकी देशों की जनता इस संघर्ष में सबसे आगे रही है।

बोलीविया के कोचाबाम्बा शहर में बेकटेल कम्पनी द्वारा पानी की आपूर्ति का अधिकार हासिल करने और पानी की कीमत बढ़ाने के खिलाफ वहाँ की जनता ने 'जलयुद्ध' छेड़ दिया। परिणामस्वरूप बेकटेल कम्पनी को तो वहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर समेटना ही पड़ा, निजीकरण की समर्थक पार्टियों और नेताओं को भी बोलिविया की जनता ने धूल चटा दी। राष्ट्रपति इवो मोरालेस की जीत के पीछे 'जलयुद्ध' की भूमिका सर्वविदित है।

पेरू, चिली और अन्य कई देशों में भी जलापूर्ति का काम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपे जाने के बाद पानी की कीमतों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की गयी जिसके खिलाफ वहाँ के शासकों को उग्र जनान्दोलन और राजनीतिक उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। प्रबल जन-आन्दोलन के बदाव में उरूग्वे की सरकार ने पानी के निजीकरण के मुद्दे पर जनमतसंग्रह करवाया जिसमें लगभग दो तिहाई जनता ने निजीकरण के विरोध में मत दिया। उरूग्वे दुनिया का पहला देश है जहाँ संविधान संशोधन कर के पानी को नागरिकों का मूलभूत अधिकार घोषित किया गया और पानी के निजीकरण

पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

दुनिया की तीन सबसे बड़ी पानी कम्पनियाँ में से एक, स्वेज कम्पनी ने हाल दी में 'द गार्जियन' अखबार को बताया कि ''लातिन अमरीका और अफ्रीका में धन्धा चलाना लगभग असम्भव हो गया था और अब हम अपना ध्यान चीन, भारत और पूर्वी यूरोप की ओर केन्द्रित कर रहे हैं।'' यह वही कम्पनी है जिसे भ्रष्टाचार के आरोप में अपने ही देश के ग्रेनोबल शहर से निकाल बाहर किया गया था और उस शहर के मेयर को जेल की हवा खानी पड़ी थी।

भारत में केरल की एक छोटी सी पंचायत प्लाचीमाड़ा की जनता की कोका कोला के खिलाफ लम्बी लड़ाई आज पूरी दुनिया में सार्वजनिक सम्पत्ति पर निजी कब्जे के खिलाफ संघर्ष का प्रतीक बन गयी है। केरल में ही पेरियार नदी का पानी निजी कम्पनियों को पट्टे पर देने तथा तीन अन्य जल परियोजनाओं को निजी पूँजीपतियों को सौंपने का सरकारी फैसला, जनता के प्रबल विरोध के कारण रद्द करना पड़ा। आन्ध्र प्रदेश सरकार ने 2002 में विश्व बैंक के सुझाव पर महबूबनगर स्थित कोयल सागर बाँध के पानी को 'पानी उपभोक्ता संघों' के माध्यम से महँगा करने का फैसला किया। इस योजना का उद्घाटन करने पहुँचे विश्व बैंक के शीर्षस्थ अधिकारी वोल्फेन्सन को वहाँ के किसानों ने खदेड़ भगाया। पिछले 10 वर्षों के दौरान देश के कई अन्य इलाकों में भी देशी-विदेशी कम्पनियों द्वारा पानी पर कब्जा जमाने का जनता ने विरोध किया। पिछले वर्ष दिल्ली जल बोर्ड के परोक्ष निजीकरण के फैसले को भी जनता के विरोध के चलते वापस लेना पड़ा । विश्व बैंक और दिल्ली सरकार की मिलीभगत से तैयार की गयी यह योजना यदि लागू हो जाती तो वहाँ पानी चार से आठ गुना महँगा हो जाता, गरीब इलाकों की सप्लाई में कटौती करके दक्षिण दिल्ली और अन्य घनाढ्य इलाकों में दिन-रात पानी पहुँचाया जाता, झुग्गी-झोपड़ियों के सार्वजनिक नलके उखाड़ लिये जाते और सबसे बड़ी बात यह कि विदेशी कन्सलटेन्सी (सलाहकार) कम्पनियों और बहुराष्ट्रीय पानी कम्पनियों को दिल्ली सरकार हर साल अरबों रुपये भेंट चढ़ाती, जिसे दिल्ली की जनता से वसूल किया जाता।

विश्व बैंक और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अभी भी देश के संसाधनों पर कब्जा जमाने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों से रोज-ब-रोज नये-नये समझौते कर रही हैं और नयी-नयी तरकीबें भिड़ा रही हैं। उत्तरांचल की स्वजल परियोजना, उड़ीसा की पानी पंचायत योजना, महाराष्ट्र का नया सिंचाई कानून, छत्तीसगढ़ में शिवनाथ नदी को बेच दिया जाना, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) में जलापूर्ति का निजीकरण, तिरूपुर (तमिलनाडु) में सरकार और पूँजीपतियों की साझेदारी–ये सभी कार्यक्रम पानी के व्यावसायीकरण की ओर उठाये गये कदम हैं, जो लगातार आगे बढ़ते जा रहे हैं। प्लाचीमाड़ा और कोचाबाम्बा की जनता से सबक लेते हुए यदि इन जनविरोधी कदमों को रोका नहीं गया तो आने वाले समय में कबीर दास की यह उलटबाँसी अक्षरशः सही साबित होगी–''लोगवा बिच मरत पियासा।''

हमारे देश में जहाँ पहले से ही अमीर-गरीब के बीच संसाधनों के बँटवारें में घोर असमानता मौजूद है और जहाँ अधिकांश जनता अभी भी साफ पानी से वंचित हैं, वहाँ पानी को मुनाफाखोरों के हाथों सौंपने का कितना विनाशकारी परिणाम सामने आयेगा, आज इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है। प्लाचीमाड़ा के एक आन्दोलनकारी ने ठीक ही कहा था–''कल प्यास से तड़प-तड़प कर मरने से तो कहीं अच्छा है कि हम लड़ते-लड़ते मर जायें।''

आखिर रास्ता क्या है?

हवा और सूर्य की रोशनी की तरह पानी भी हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य है। इस प्राकृतिक सर्वसुलभ और सार्वजनिक सम्पदा को उपभोक्ता माल में बदलकर, उसका व्यापार करके अपनी तिजोरी भरने के लिए दुनिया-भर के पूँजीपति आज जो छल-प्रपंच कर रहे हैं, उसने विश्व जनगण के सामने एक बुनियादी वैचारिक प्रश्न ला खड़ा किया है, जिस पर बहस भी छिड़ी हुई है। यह बहस सामूहिक उपभोग और निजी मुनाफे के बीच है। यह बहस एक तरफ पूँजीपातियों द्वारा हर समस्या का लाभ उठाकर उससे मुनाफा बटोरने की घृणित मंशा और दूसरी ओर पानी जैसी जरूरी चीज की सार्वजनिक व्यवस्था और सामूहिक मालिकाने के अधीन इसे जन-जन तक पहुँचाने और बुनियादी अधिकार के रूप में हर नागरिक को पानी की गारण्टी देने की माँग के बीच है। इन्साफ और इन्सानियत में यकीन रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस बहस में किस पक्ष में खड़ा होना चाहेगा? जाहिर है कि वह पानी के सामूहिक उपभोग और संरक्षण तथा सार्वजनिक वितरण की वकालत करेगा, जैसा कि हाल ही में उरूग्वे की 75 फीसदी जनता ने वहाँ जनमतसंग्रह के समय किया। इस प्रबल जनभावना के चलते ही पानी पर हमला बोल रहे डाकुओं को जनबल और जनाक्रोश के आगे जगह-जगह मात खानी पड़ी। वे केवल वहीं सफल हो रहे है जहाँ उनकी कुटिलता, जनता के भोलेपन और निम्न चेतना पर भारी पड़ रही है। लेकिन जैसे ही उनकी लूट का नतीजा सामने आयेगा, वहाँ की जनता भी नींद से जरूर जागेगी।

जनता के प्रतिरोध आन्दोलनों से सबक लेते हुए पानी के लुटेरे आज तरह-तरह से पैंतरे बदल रहे हैं। विश्व बैंक और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पिट्ठू निजीकरण के खिलाफ जनाक्रोश को देखते हुए अब 'निजी-सार्वजनिक साझेदारी', 'जनता की भागीदारी', 'पानी पंचायत', 'स्वजल अभियान' और 'पानी उपभोक्ता संघ' जैसे लुभावने और भ्रामक शब्दों की आड़ में पानी के व्यावसायीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं।

सुधारवादी स्वयंसेवी संगठन, साम्राज्यवाद पोषित जल संरक्षक और विशुद्ध पर्यावरणवादी बड़ी आसानी से उनके झाँसे में आ सकते हैं जो वर्तमान जल संकट और उसके व्यावसायीकरण की समस्या को पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी समस्या के रूप में नहीं देखते और जाने-अनजाने इस भ्रम के शिकार होते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के साथ छेड़-छाड़ किये बिना भी इन्सानियत की बेहतरी सम्भव है।

क्या पूँजीपतियों की दखलन्दाजी के बिना पानी का प्रबंधन, संरक्षण और वितरण सम्भव नहीं? युगों-युगों से मानव समाज अपने जल स्रोतों की मिलजुल कर हिफाजत करता आ रहा है। हालाँकि औद्योगिक पूँजीवाद के आने से पहले भी पानी के स्रोतों पर समाज के उच्चवर्ग का ही कब्जा था और वे आम जनता को उसका इस्तेमाल करने से रोकने की कोशिश भी करते थे लेकिन आज की तरह साफ पानी के अभाव जैसी कोई समस्या नहीं थी। तब जिन्दगी कठिन थी। पूँजीवाद ने इसे आसान बनाया। लेकिन यह भी सच है कि पूँजीवाद ने ही पानी के स्रोतों को गन्दा और जहरीला बनाया, उन्हें तबाह किया और पानी का संकट पैदा किया। पहले पानी को प्रदूषित करना, फिर उसे साफ करना और मनमाने दामों पर बेचना–यही है पूँजीवादी 'जलचक्र' जिसके केन्द्र में है–मुनाफाखोरी। इस दुष्चक्र को तोड़कर धरती और पर्यावरण को पुरानी अवस्था में वापस लाना काफी मुश्किल है लेकिन असम्भव बिल्कुल नहीं।

सच तो यह है कि सामूहिक और सामुदायिक प्रयास के दम पर ही इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। चाहे सिंचाई का मसला हो या नदियों व जलस्रोतों को प्रदूषण से बचाने का या जलापूर्ति का, निजी उपभोग या निजी मुनाफा बटोरने वाले व्यक्ति को इस बात की परवाह नहीं होती कि बाकी लोगों का क्या होगा, आने वाली पीढ़ियों का क्या होगा? अपने तात्कालिक हित और निजी स्वार्थ से प्रेरित कोई भी व्यक्ति बेरहमी के साथ बेहिसाब पानी बहायेगा। भले ही पर्यावरण तबाह को जाय और जलस्रोत सूख जायें लेकिन उसके स्वार्थ की पूर्ति होनी चाहिए। इस पूँजीवादी निजी स्वार्थ की मनोवृत्ति ने ही पानी का संकट पैदा किया है और यदि इस पर रोक नहीं लगी तो यह संकट महाविपत्ति का कारण बनेगा। पानी का सुनियोजित और सुसंगत प्रयोग करके ही मानवता को इस विपत्ति से बचाया जा सकता है। यह काम राष्ट्रीय पैमाने पर पूरी जनता को साथ लेकर ही सम्भव हो पायेगा।

प्रकृति, पानी और धरती को तबाही से बचाने के लिए हमें एक ऐसी समाज व्यवस्था की बुनियाद रखी होगी जो मुनाफे और खुदगर्जी से नहीं बल्कि 'बहुजन हिताय' के आदर्श से संचालित होगी। जल संरक्षण के मामले में हम 300 वर्ष पहले के अपने पुरखों से बेहतर स्थिति में हैं क्योंकि आज हमारे पास उन्नत तकनीक और विज्ञान की अच्छी समझ है। एक ही बाधा है–मुनाफाखोरी, जिसे हटाकर हम धरती को सचमुच स्वर्ग बना सकते हैं।

आज दुनिया के कई देशों में सामूहिक जल प्रबन्धन के छोटे-छोटे प्रयोग सफलतापूर्वक संचालित किये जा रहे हैं। व्यवस्था के अधीन होने के चलते इन प्रयोगों की अपनी सीमाएँ हैं लेकिन फिर भी ये प्रयोग इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि मुनाफाखोरों की दखलन्दाजी के बिना भी पानी का प्रबन्ध और आपूर्ति सम्भव है।

घाना में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी से सफलतापूर्वक पानी की आपूर्ति हो रही है। 1998 में वहाँ सिर्फ 9% परिवारों को साफ पानी मिलता था जो 4 वर्षों में बढ़कर 74% हो गया। बोलीविया में बेकटेल कम्पनी को भगाने के बाद वहाँ जलापूर्ति का काम जनता के सहयोग और हिस्सेदारी से चलाया जा रहा है। बोलीविया के शान्ताक्रुज शहर में पानी का प्रबन्ध नागरिकों की सहकारी समिति करती है जिसका सदस्य वहाँ का हरेक नागरिक है। प्रतिमाह 135 घन मीटर पानी इस्तेमाल करने वालों से कोई चार्ज नहीं लिया जाता और जो लोग पानी का बिल नहीं चुका पाते उनका कनेक्शन भी नहीं काटा जाता।

जल संसाधनों पर कब्जा जमाने के लिए पूँजीपतियों की मारामारी को देखते हुए अक्सर लोग यह कहते हैं कि अगला युद्ध खनिज तेल के लिए नहीं बल्कि पानी के लिए लड़ा जायेगा। यह सही है कि पानी को मुनाफे का नया क्षेत्र बनाना साम्राज्यवादी संकट की अभिव्यक्ति है। अपने संकट को हल करने के लिए साम्राज्यवादी शक्तियाँ बाजार और कच्चेमाल के स्रोतों पर कब्जे की होड़ में दुनिया को दो बार विश्वयुद्ध की आग में झोंक चुकी हैं। जब तक साम्राज्यवाद है, तब तक युद्ध की स्थिति भी बनी रहेगी। लेकिन पानी का मसला जन-जन से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और पर्यावरण से भी। यह हरेक व्यक्ति की जिन्दगी और मौत का सवाल है। यह प्रकृति और धरती के अस्तित्व से जुड़ा हुआ सवाल है। ऐसे में दुनिया की जनता क्या हाथ पर हाथ धरे बैठी इस बात का इन्तजार करती रहेगी कि मुट्ठी-भर मुनाफाखोर इस धरती को अपनी हवस का शिकार बनाते रहें, इसे तबाह करते रहें? पानी के सवाल पर पिछले दिनों दुनिया के विभिन्न हिस्सों में जनता ने जो बहादुराना संघर्ष किये हैं, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दुनिया की जनता साम्राज्यवादियों के नापाक मन्सूबों को कभी पूरे नहीं होने देगी। □

एक आदमी रोटी बेलता है

कृषि-व्यापार

रोटी से खेलने वालों की कारस्तानियाँ

-रामकृष्ण

एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी है
जो न रोटी बेलता है न खाता है
वह रोटी से खेलता है।
मैं पूछता हूँ
वह तीसरा आदमी कौन है?
हमारे देश की संसद मौन है।

–धूमिल

गेहूँ कटाई के इस मौसम में कुछ अनोखी बातें सामने आयीं जो धूमिल की इस कविता के तीसरे आदमी की कारगुजारियों और देश के कृषि-व्यापार पर मँडराते संकट को परिलक्षित करते हैं।

पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल की तराई में आई.टी.सी., कारगिल, ब्रिटानिया और कई अन्य देशी-विदेशी कम्पनियों तथा मिल मालिकों ने इस मार्च-अप्रैल में लाखों टन गेहूँ खरीदा। इस वर्ष सरकार ने गेहूँ का समर्थन मूल्य पिछले साल की तुलना में 10 रुपये बढ़ाकर 650 रुपये प्रति क्विण्टल घोषित किया। इसके अलावा प्रति क्विण्टल 50 रुपये बोनस देने की भी घोषणा की। फिर भी सरकारी खरीद-केन्द्रों पर सन्नाटा छाया रहा क्योंकि बड़े अनाज व्यापारी और मिल-मालिक समर्थन मूल्य से अधिक कीमत पर न केवल मण्डियों से, बल्कि सीधे किसानों के घर जाकर भी गेहूँ खरीद रहे थे।

सरकार ने जनवरी माह में 5 लाख टन गेहूँ आयात करने का फैसला किया था। इस फैसले के खिलाफ किसान संगठनों का विरोध अभी जारी ही था कि अप्रैल माह में सरकार ने विदेशों से 30 लाख टन गेहूँ की नयी खेप मँगाने का फैसला कर लिया। उस समय देश में गेहूँ की खरीद-ब्रिक्री अपने चरम पर थी और बाजार भाव में काफी भिन्नताएँ थीं। सरकारी रेट 700 रुपये प्रति क्विण्टल और खुले बाजार का भाव 670 से 800 रुपये प्रति क्विण्टल था, जबकि विदेशों से गेहूँ मँगाने पर सरकार का 1128 रुपये प्रति क्विण्टल खर्च होने वाला था। कटाई के मौसम में गेहूँ के थोक भाव में इतना भारी अन्तर पहले शायद ही सुनने में आया हो, खासतौर पर देश के उन इलाकों में जहाँ गेहूँ की पैदावार सबसे ज्यादा होती है।

कृषि-व्यापार में इस अफरा-तफरी के समानान्तर एक और बात सामने आयी। केन्द्र सरकार ने उत्तर प्रदेश के गरीबी रेखा की नीचे की श्रेणी वाले एक करोड़ कार्डधारियों के लिए अप्रैल माह के राशन कोटे की आपूर्ति नहीं की। केन्द्र सरकार का कहना था कि उसके गोदाम में गेहूँ नहीं है। 2001 में इससे एकदम विपरीत स्थिति सामने आयी थी। तब सरकारी गोदामों में अनाज रखने के लिए जगह नहीं बची थी। इसी का बहाना बना कर सरकार ने 2 करोड़ टन गेहूँ बहुत ही कम भाव पर विदेशों में बेच दिया था। इस बीच एक ही चीज नहीं बदली कि तब भी देश में करोड़ों लोग भुखमरी और कुपोषण के शिकार थे और आज भी हैं।

बिडम्बना देखिये कि जिस समय सरकार विदेशी कम्पनियों से विदेशी गेहूँ मँगाने का फैसला कर ही थी ठीक उसी समय विदेशी अनाज व्यापारी हमारे देश में बेरोक-टोक गेहूँ खरीद रहे थे। और तो और, जिस आस्ट्रेलियाई ऐजेन्सी से सरकार ने गेहूँ आयात का सौदा किया था, वही एजेन्सी–आस्ट्रेलियाई व्हीट बोर्ड–भारत में किसानों से गेहूँ खरीद रही थी। सरकार इस बात का रोना रो रही थी कि उसके गोदाम खाली हैं, जबकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना गोदाम भरने के लिए ध ड़ा-धड़ गेहूँ खरीद रही थीं।

कृषि-व्यापार के बारे में मार्च-अप्रैल के महीने में अक्सर ही ऐसी खबरें आती रहीं जो सामान्य बुद्धि को चकरा देने वाली थीं। ज्यादातर लोगों के लिए समझना मुश्किल था कि यह हो क्या रहा है। लेकिन जिन लोगों को पिछले 15 वर्षों के दौरान सरकारी नीतियों में किये गये परिवर्तनों की थोड़ी भी जानकारी है उनके लिए यह समझना मुश्किल नहीं कि ऐसा क्यों हो रहा है। ये घटनाएँ सरकार द्वारा कृषि-व्यापार के क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय निगमों की घुसपैठ तथा उनकी लूट-खसोट, जमाखोरी, कालाबाजरी ओर सट्टेबाजी को बढ़ावा देकर किसानों को असुरक्षित और जनसामान्य को अभाग्रस्त बनाने की कपटपूर्ण साजिशों का परिणाम है।

हो सकता है कि बड़े अनाज-व्यापारियों के आने से कुछ लोगों को कुछ समय के लिए राहत मिल जाये लेकिन दूरगामी तौर पर यह पूरे कृषि क्षेत्र ओर समूचे किसान समुदाय के लिए विनाशकारी साबित होगा। किसानों की फसल आसानी से और बेहतर दामों पर बिक जाये, इससे अच्छी बात भला और क्या हो सकती है। लेकिन कारगिल और अम्बानी जैसे मुनाफाखोरों से क्या हम यह उम्मीद कर सकते हैं कि वे हर साल किसानों की फसल खरीदने और उन्हें बेहतर कीमत चुकाने की गारण्टी देंगे? जब सरकार ही इस जिम्मेदारी से मुँह मोड़ चुकी है तो इन देशी-विदेशी कम्पनियों से भला यह उम्मीद कैसे की जा सकती है। अभी आधी सदी

भी नहीं गुजरी जब अनाज-व्यापारी जमाखोरी करके जनता को दाने-दाने के लिए तरसाते थे और कालाबाजारी करके करोड़ों का वारा-न्यारा करते थे।

कृषि-व्यापार में बड़े खिलाड़ियों ने अभी पूरी तरह पाँव नहीं जमाया है और कुल व्यापार में इनका हिस्सा भी अभी कम ही है। अप्रैल के अन्त तक इन्होंने मण्डियों से लगभग 10 लाख टन गेहूँ खरीदा था। किसानों से की गयी सीधी खरीद को शामिल कर लिया जाये तो भी गेहूँ की कुल खरीद में सरकार और छोटे आढ़तियों का हिस्सा इनसे काफी अधिक है। लेकिन इतने पर ही हमारे देश के कृषि-विपणन का ढ़ाँचा (अनाज की कीमतें और खरीद की प्रणाली) तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली और खाद्यान्न सुरक्षा तन्त्र डाँवाडोल हो गया। कल्पना करें कि जब कृषि व्यापार पर इनका दबदबा कायम हो जायेगा तब क्या होगा?

यह सही है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और देशी बड़े पूँजीपति हमारे देश की कृषि-व्यवस्था को लूटने-खसोटने और हड़प लेने पर आमादा हैं। लेकिन यह भी सही है कि हमारे देश की सभी पमुख पार्टियों की आपसी सहमति से इसके लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार की गयी है। खेती पहले भी लूट का हरा-भरा चारागाह थी लेकिन उसमें जगह-जगह पर सरकारी नीतियों की बाड़ और पहरेदारी थी, कुछ काग-भगोड़े थे तो कुछ शिकारी कुत्ते। 1991 के बाद एक-एक कर इन्हें हटा दिया गया। यहाँ स्थानाभाव के कारण उनके विस्तार में जाना सम्भव नहीं, इसलिए हम उनमें से कुछ की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

- 1991 में नयी आर्थिक नीति लागू करके सरकार ने अर्थव्यवस्था से सरकारी नियन्त्रण हटाकर उसे देशी-विदेशी पूँजीपतियों के लिए पूरी तरह खोलने की शुरुआत की। इसके अन्तर्गत आयात-निर्यात नीति में किये गये बदलावों ने कृषि-व्यापार को सबसे ज्यादा प्रभावित किया और आगे चलकर देश के कृषि-व्यापार में दुनिया की विराट अनाज व्यापार निगमों की दखलन्दाजी के लिए आधार प्रदान किया।
- 1994 में विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बनने के बाद हमारे देश के शासकों ने कृषि-नीति में जो ढेर सारे बदलाव किये उनमें एक था, वर्ष 2000 के बाद 1400 से अधिक वस्तुओं के आयात पर से प्रतिबन्ध हटाना। इसी के साथ आयात शुल्क, आबकारी और तटकर में भी तेजी से कमी की गयी। इसका पहला आघात तेलहन की खेती को झेलना पड़ा जब सस्ते पामोलीन के आयात ने सरसों उगाने वाले किसानों और तेलघानी के काम में लगे छोटे उद्यमियों को बेरहमी से उजाड़ा। तभी से भारत के बाजारों को सस्ते विदेशी मालों से पाटकर यहाँ के छोटे उत्पादकों को तबाह और बर्बाद करने का सिलसिला जारी है।
- केन्द्र सरकार ने 2003 में कृषि-उत्पाद मण्डी (विकास एवं नियमन) कानून का एक प्रारूप तैयार किया जिसे कई राज्य सरकारों ने स्वीकार कर लिया और केन्द्रीय कृषिमन्त्री द्वारा इसे बाकी राज्यों पर भी इस बात के लिए दबाव बनाया जा रहा हहै कि वे इसे जल्दी-से-जल्दी लागू करें। इस कानून का उद्देश्य कृषि-व्यापार के क्षेत्र में अब तक चले आ रहे लाइसेन्स, कोटा, परमिट और अन्य सरकारी नियन्त्रणों को समाप्त करना तथा कृषि-उत्पादों का भाव तय करने और उसकी खरीद-ब्रिक्री में सरकारी हस्तक्षेप खत्म करना है ताकि बड़े पूँजीपति खुलकर खेल सकें। इसमें सरकारी मण्डियों के समानान्तर प्राइवेट मण्डी खोलने के लिए राज्य सरकार द्वारा अच्छे इलाके में सस्ती और पर्याप्त जमीन देना, कृषि-उपज की आवाजाही और ब्रिक्री पर से रोक हटाना तथा देशी-विदेशी कम्पनियों और निर्यातकों के लिए लाइसेन्सशुदा आढ़तियों के बजाय सीध किसानां से अनुबन्ध करने और खरीदने की इजाजत देना शामिल है।
- खाद्य प्रसंस्करण और कृषि-व्यापार के क्षेत्र में विदेशी पूँजीनिवेश को बढ़ावा देने के लिए इन क्षेत्रों में शत्-प्रतिशत विदेशी मालिकाने वाली कम्पनी बनाने और चलाने की छूट दी गयी है। साथ ही, इन कम्पनियों के शेयरों की खरीद-ब्रिक्री और कर्ज लेने-देने से सम्बन्धित कानूनी अड़चनों को हटा लिया गया है तथा सट्टेबाजी को बढ़ावा देने के लिए वायदा कारोबार (फ्यूचर्स) की भी इजाजत दे दी गयी है।

इन्हीं कानूनी जिरह-बख्तरों और असलहों से लैस होकर देशी-विदेशी कम्पनियाँ कृषि-व्यापार के मैदान में उतर पड़ी हैं। अनाज की खरीद-बिक्री पर एकाधिकार कायम करने के बाद ये कम्पनियाँ जमाखोरी, कालाबाजारी और सट्टेबाजी जैसे नीचतापूर्ण तौर-तरीके अपनाकर अनाज की कीमतों में मनमाने तरीके से तेजी-मन्दी ला सकती हैं। तब कटाई के मौसम में कीमते गिराकर सस्ते भाव में अनाज खरीदेंगी और उसके बाद बाजार में कृत्रिम अभाव पैदा करके मनचाहे दाम पर बेचेंगीं। यह अनाज पैदा करने वाले किसानों और उसका उपभोग करने वाली जनता, दोनों के लिए अनर्थकारी होगा और तब सरकार कुछ नहीं कर पायेगी क्योंकि उन्हें ढेर सारे कानूनी अधिकार देकर उसने पहले ही अपने हाथ बाँध लिये हैं। यह तय है कि 800 रुपये क्विण्टल गेहूँ खरीदकर गोदाम

भरने वाली कम्पनियाँ खैरात में गेहूँ नहीं बाँटेंगी, बल्कि साफ-सुथरे, लुभावने पैकिंग में मेगामार्ट, डिपार्टमेण्ट स्टोर और शापिंग माल के जरिये ऊँचे-से-ऊँचे भाव पर उसे बेचेंगी। पिछले दिसम्बर-जनवरी में 1600 रुपये प्रति क्विण्टल आटा बेचकर उन्होंने इसका प्रमाण दे दिया है, आगे भी यही करेंगी। देश की कृषि-नीति और विश्व व्यापार संगठन के समझौतों का हवाला देकर वे सरकार को भी खैरात बाँटने या गरीबों को सस्ते दाम पर राशन बेचने से रोक सकती हैं। निश्चय ही यह देश की 80 फीसदी जनता के लिए विनाशकारी साबित होगा क्योंकि तब पहले से ही कम खाकर गुजारा करने वाले लोगों के लिए रोटी के लाले पड़ जायेंगे। सरकार ने भी सरकारी खरीद की उपेक्षा करके अपना गोदाम खाली करना शुरू कर दिया है ताकि कोई उसे 'खाली पेट भरे गोदाम' की उलाहना न दे। साथ ही उस पर गरीबों को सस्ते दर पर अनाज बेचने ओर देशी-विदेशी कम्पनियों का बाजार खराब करने का इल्जाम भी नहीं आयेगा। उत्तर प्रदेश के लिए अप्रैल माह का राशन कोटा न देकर केन्द्र सरकार ने भविष्य के लिए यह संकेत दे दिया कि वैश्वीकरण के इस आधुनिक युग में वह अनाज के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता, सार्वजनिक वितरण प्रणाली और खाद्य सुरक्षा जैसी दकियानूस चीजों को ज्यादा दिन जारी नहीं रखने वाली। दरअसल, वह जनता के प्रति हर तरह की जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेना चाहती है।

आज देश का कृषि-व्यापार जिस दिशा में आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए 1876 के जमाने का दृश्य आँखों में कौंध जाता है। उसी साल लार्ड लिट्टन ने महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के लिए दिल्ली में एक विराट और भव्य भोज का आयोजन किया था। जिस सप्ताह दिल्ली में यह दरबार सजाया गया उसी दौरान केवल मद्रास और मैसूर के एक लाख लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। ठीक उसी समय व्यापारियों ने भारत से 3,20,000 टन अनाज इंग्लैण्ड भेजा। उस साल अवध और पंजाब में फसल काफी अच्छी हुई थी, इसके बावजूद वहाँ के 12,50,000 लोग भूख से मर गये।

काफी मुश्किल से हमारा देश भूख और अकाल की इन विभीषिकाओं से बचने और अनाज के मामले में स्वावलम्बी बनने का प्रयास कर रहा था। लेकिन अब किसानों को विविधीकरण अपनाने और अनाज की जगह फूल, जड़ी-बूटी और ऐसी दूसरी फसलें उगाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है जिन्हें विदेशों में बेचकर डालर कमाया जाये। रोटी से खेलने वाले किसानों को यह बता रहे हैं कि वे खाने के लिए नहीं, निर्यात करने के लिए खेती करें।

देश के बड़े फार्मरों, बड़े भूस्वामियों और धनाढ्य किसानों की जमात अपने तुच्छ स्वार्थों के चलते खेती में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की घुसपैठ का पक्षपाती है। शरद जोशी जैसे किसान नेता, मुख्यधारा के अधिकांश पत्रकार और अर्थशास्त्रियों का एक बड़ा हिस्सा दिन-रात इसके फायदे गिनवाने में व्यस्त रहता है। इन लोगों की भूमिका कमोबेश वही है जो अंग्रेजी राज में सामन्तों, जमींदारों और अंग्रेजीदाँ शहरी मध्यवर्ग की थी।

हमारे यहाँ किसान नेताओं और अर्थशास्त्रियों के बीच ऐसे भोले-भाले लोगों की भरमार है जो खेती में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की घुसपैठ का विरोध करते हुए इसे सरकार की लापरवाही और कमजोरी का नतीजा मानते हैं। जबकि बात ऐसी नहीं है। सरकार ठण्डे दिमाग से खेती को पूँजीपतियों के हवाले करना चाहती है और वह पूरी मुस्तैदी और मजबूती से इस काम में लगी हुई है। कहना मुश्किल है कि ये भोले लोग सचमुच भ्रमित हैं या सचमुच में भोले लोगों को भ्रमित करने के लिए भोलेपन का दिखावा करते हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले नेताओं की तो बात ही छोड़िये। अकालीदल, लोकदल और भाजपा के जिन नेताओं ने सरकार में एक साथ बैठकर किसानों के गले पर छुरी चलाने वाली नीतियों को तैयार किया था उन्होंने ही विपक्ष में होने के नाते गेहूँ निर्यात के मुद्दे पर किसान-हितैषी और देशभक्त होने का स्वांग करना शुरू कर दिया। हालाँकि लोग भी अब उनकी असलियत को समझने लगे हैं।

पिछले 15 वर्षों से जनपक्षधर संगठनों और कार्यकर्ताओं ने आर्थिक सुधारों के नाम पर देश में तबाही लाने वाली जिन नीतियों का पर्दाफाश करने की यथासम्भव कोशिश की, अब एक-एक कर उनके दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। पहले लोगों को यकीन नहीं आता था कि उनकी अपनी ही सरकार और अपनी ही बिरादरी के नेता उनके खिलाफ ऐसे फैसलें लेंगे। अभी भी मेहनतकशों में इन बातों को लेकर काफी गफलत और मुगालता मौजूद है। इनसे मुक्ति पाये बिना और सही चीजों से वाकिफ हुए बिना छोटे-छोटे मुद्दों पर यहाँ-वहाँ कुछ झड़पें तो की जा सकती हैं और हो भी रही हैं, लेकिन इन जनद्रोही-राष्ट्रद्रोही फैसलों के खिलाफ कारगर और मुकम्मिल लड़ाई सम्भव नहीं होगी। धैर्यपूर्ण और लम्बे संघर्ष के जरिये ही इस परिस्थिति को बदलना सम्भव होगा। □

विदेश-नीति

भारत की विदेश-नीति अमरीका की वैश्विक रणनीति का अंग बनने की ओर अग्रसर

–बुद्धेशमणि

जाने के कुछ बहुत ही स्पष्ट संकेत मिलने लगे हैं। इसकी दिशा बदलने की सम्भावना अभी बिल्कुल खत्म तो नहीं हुई है, लेकिन जितने भी तथ्य सामने आ रहे हैं, वे इसके गलत दिशा में मुड़ने की ही पुष्टि कर रहे हैं। यहाँ तक कि जन सामान्य को भी सतह पर जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह बहुत ही अपशकुन भरा और अशुभ है। लेकिन यह तो सुदूर समुद्र में तट से दिखाई देने वाला एक बड़े जहाज का मस्तूल-भर है। इन विषयों के जानकार लोग इसकी तह में जाकर बहुत कुछ देख पाने में असमर्थ हैं।

इस वर्ष मार्च के प्रारम्भ में बुश की भारत-यात्रा के समय यहाँ जो कुछ हुआ वह बहुत ही विनाशकारी अशुभ संकेत है। संसद में उसका भाषण इसलिए रद्द कर दिया गया क्योंकि सोनिया गाँधी और मनमोहन सिंह की सरकार को तथा बुश और उसके सलाहकारों को इस बात का भय था कि संसद में भाषण के दौरान भारी संख्या में कुर्सियाँ खाली रहेंगी। वह लालकिले से बोलना चाहता था लेकिन मरने के डर से उसके सुरक्षा सलाहकारों ने उसे वहाँ भी बोलने से मना कर दिया। अन्त में पुराने किले में उसके बोलने का समारोह आयोजित किया गया। चुने हुए देशी-विदेशी लोगों के बीच बुलेट-प्रूफ बाक्स में खड़े होकर उसने अपना भाषण पूरा किया। इस देश की सरकार और समाचार माध्यमों ने चारणों की तरह उसकी प्रशंसा के गीत गाये, पूँजीपति वर्ग ने उसकी प्रशंसा में पुल बाँधे। यह सब कुछ भारत के शासक वर्गों के एक बड़े हिस्से की आम सहमति से हुआ। भाजपा के लोगों को केवल एक ही शिकायत रही, और अभी भी है, कि यह सुअवसर सोनिया गाँधी और मनमोहन सिंह को मिलने के बजाय उन्हें क्यों नहीं मिला। देशी-विदेशी सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर, खासकर आर्थिक नीति, पूँजीनिवेश, विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने, विदेश-नीति और अन्य सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर इनमें आम सहमति है। आश्चर्य नहीं कि भविष्य में कभी ये दोनों पार्टियाँ साथ मिलकर इन्हें कार्यान्वित करें।

अब बुश के बारे में कुछ बातें। लालकिले की प्राचीर से सम्बोधन की इच्छा रखने वाला और अन्ततः पुराने किले से सम्बोधित करने वाला यह बुश अमरीका का एक बहुत ही निकम्मा, कायर और क्रूर राष्ट्रपति है। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह नशीली दवाओं के व्यसन का शिकार और मनोरोगी रहा है। उसके इद-गिर्द बैठे हुए लोग अमरीकी थैलीशाहों के कृपापात्र और उनके हितों के रक्षक हैं और जनविरोधी षड्यन्त्रकारी गिरोह की तरह झूठ, फरेब, बेईमानी और क्रूरता के साथ निकृष्ट से निकृष्टतम अपराध कर सकते हैं और कर रहे हैं। इसतरह के अपराध केवल कायर और मनोरोगी ही करते हैं। लोग कहते हैं कि हिटलर भी कायर और मनोरोगी था। जार्ज वाशिंगटन, जैफर्सन, लिंकन और रुजवेल्ट जैसे लोग अगर शेर, बाघ और बघेरा थे तो यह गन्दे सुअर की दुम है। जार्ज वाशिंगटन से लेकर जार्ज बुश तक की अमरीका की यात्रा एक रूप में इन प्रतीकों के सहारे रेखांकित की जा सकती है। ऐसे बुश को यहाँ का शासक वर्ग लालकिले की प्राचीर से बोलने का अवसर क्यों देना चाहता है?

बुश और उसके षड्यन्त्रकारी गिरोह के सभी लोगों के हाथ खून से रंगे हुए हैं। उनके कपड़ों और शरीर पर आपादमस्तक खून के धब्बे हैं जिन्हें अमरीका का सारा डिटर्जेण्ट साबुन भी नहीं छुड़ा सकता। इसके डाकू सिपाहियों ने बेबीलोन की सभ्यता की अनमोल धारोहर को लूटा और बर्बाद किया। इनके द्वारा नियन्त्रित कम्पनियों ने इराक में अरबों के मुनाफे कमाये। इराक के बच्चे, बूढे, औरत, मर्द, स्वस्थ-अस्वस्थ, कमजोर और बीमार लोगों के खून से इनके हाथ रंगे हैं। क्यूबा के पास ग्वान्तेनामो खाड़ी स्थित कैदखाने और इराक में अबूगरीब में इनके द्वारा किये गए कुकृत्य जघन्य अपराधों की पराकाष्ठा हैं जिसे मानवता कभी भूल नहीं सकती। दरअसल, कितनी भी उदारता के साथ सोचा जाये, ये युद्ध-अपराधी हैं और युद्ध अपराध का मुदकमा चलाकर इन्हें सजा दी जानी चाहिए। इनके कुकर्मों के लिए मौत की सजा भी कम ही है।

बुश ने पहला चुनाव धोखाधड़ी और छल-प्रपंच से जीता, दूसरा भी बामुश्किल जीत पाया। अमरीकी जनता का अल्पमत ही इसके साथ है। अब तो 35 प्रतिशत लोग भी

इसके साथ नहीं रह गये हैं। 65 प्रतिशत से ज्यादा अमरीकी जनता इसके कुकृत्यों की निन्दा करती है। बुश अमरीकी जनता और दुनिया की जनता के शोषण और लूट का 1.854 ट्रिलियन यानी 1,854 अरब डालर इराक युद्ध में झोंक चुका है।

बुश और उसका गिरोह कहता है कि किसी भी देश की शासन व्यवस्था कैसी होगी और उसका शासक कौन होगा यह वही तय करेगा। अगर किसी देश की शासन व्यवस्था उसकी परिभाषा से मेल नहीं खाती तो उस पर हमला करके अपनी सनक के मुताबिक शासन व्यवस्था और शासक बैठाने का वह अपना अधिकार समझता है। वह राष्ट्रों की सम्प्रभुता का आदर नहीं करता और मात्र इस बात से कि उसको और उसके गिरोह को सन्देह है कि कोई देश उसके लिए खतरा है या बन सकता है, तो वह उस पर हमला करना अपना अधिकार समझता है। अफगानिस्तान, ईरान, लेबनान, उत्तर कोरिया, फिलिस्तीन और ऐसे ढेरों देशों के लिए यह आतंक का पर्याय बन चुका है। पूरा मध्यपूर्व, यहाँ तक कि उसके सबसे भरोसे के सहयोगी सउदीअरब जैसे देश भी अब इससे खौफ खाने लगे हैं। उसका मन्सूबा धरती, जल और आकाश, सबकुछ अपने नियन्त्रण में कर लेने का है। उसकी महत्वाकांक्षा दुनिया पर एकछत्र राज करने और लूट-खसोट करने की है। इसी के अभिप्रेत से उसकी सारी योजनाएँ, रणनीति और रणकौशल तैयार किये जाते हैं। ऐसे देश के शासक वर्ग और उसके राष्ट्रपति के साथ भारत के शासक वर्गों, यहाँ की सरकार और दो प्रमुख राजनीतिक पार्टियों का प्यार, अनुराग और लगाव अकारण नहीं हो सकता। जरूर उन्होंने तय कर लिया होगा कि उनका गुलाम बनकर इनकी तकदीर का सितारा सातवें आसमान पर चमकने लगेगा।

यहाँ कुछ और छिटपुट बातों की चर्चा करना भी प्रासंगिक होगा। भारत स्थित अमरीकी राजदूत ने धमकी भरे अन्दाज में कहा कि भारत अगर ईरान मामले पर अमरीका का साथ नहीं देगा तो बुश-मनमोहन समझौता रद्द समझा जायेगा। यही बात वह एक बार नहीं कई बार कह चुका है। एक बार उसने एक प्रान्त के मुख्यमन्त्री को कुछ उल्टा-सीधा कहा, क्या कहा यह बात अखबार और शासक वर्ग देश की जनता से छिपाते रहे हैं। जब प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह से इसके बारे में कुछ कहने और इसका प्रतिकार करने के लिए कहा गया तो काफी दिनो की खामोशी के बाद उन्होंने बस इतना ही कहा कि इसके बारे में वे कुछ नहीं कहेंगे। आश्चर्य कि एक राजदूत, जिससे कूटनीतिक तौर-तरीकों का पालन करने की उम्मीद की जाती है, उद्दण्डता से भारत को धमकी देता है और देश का दब्बू प्रधानमन्त्री खामोश रहता है। निश्चित ही, किसी भी भारतवासी के लिए यह अपमानजनक है, यह एक राष्ट्रीय अपमान है। क्या सोनिया-मनमोहन की सरकार इस बात को नहीं समझती? अगर समझती है तो इस खामोशी का राज क्या है? कोई बात तो होगी?

अमरीका के पास हमारे देश के बहुत से नोताओं और अधिकारियों का कच्चा-चिट्ठा मौजूद है। जरूरत पड़ने पर वह उसे खोलता है। पूर्व विदेशमन्त्री नटवर सिंह ने क्या किया और कितना पैसा खाया यह या तो उनकी अन्तरात्मा जानती है या कांग्रेस पार्टी, लेकिन इतना साफ है कि यह पूरा प्रकरण इसलिए उछाला गया ताकि नटवर सिंह को हटाकर एक पसन्दीदा आदमी को बैठाया जा सके।

भारत के पूर्व पेट्रोलियममन्त्री मणिशंकर अय्यर का तबादला क्यों हुआ? यह जानते हुए भी कि यह बात अमरीका को पसन्द नहीं, मणिशंकर अय्यर ईरान, चीन, रूस आदि देशों के साथ मिलकर भारत की ऊर्जा आवश्यकता को क्षेत्रीय सहयोग के आधार पर पूरा करने के लिए प्रयासरत थे। अमरीका द्वारा हाव-भाव से अनिच्छा प्रकट करने की देर थी कि सोनिया-मनमोहन की सरकार ने खुद ही मणिशंकर अय्यर से यह विभाग छीन लिया। यह बात भी अमरीका के उद्धत राजदूत मलफोर्ड ने अपने भाषण में कही कि मणिशंकर अय्यर को इसलिए हटाया गया क्योंकि वह पाइपलाइन ''परियोजना में अपने विभागीय दायरे के बाहर जाकर बहुत ज्यादा रुचि दिखा रहा था'' और उसकी जगह आये नये पेट्रोलियममन्त्री का ''उर्जा समस्या पर ज्यादा उदार और सन्तुलित दृष्टिकोण है।'' (इण्डियन एक्सप्रेस, 29 अप्रैल 2006)

स्पष्ट है कि अमरीकी हस्तक्षेप अब इस हद तक पहुँच गया है कि अमरीकी हितों के अनुरूप मन्त्रियों के विभागों में हेर-फेर भी होने लगे हैं।

मनमोहन सिंह रोज सफाई देते फिरते हैं कि ईरान की समस्या को जोर-जबरदस्ती से हल नहीं किया जाना चाहिए। प्रश्न यह नहीं है कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि अमरीका और उसके नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह जो जोर-जबरदस्ती कर रहा है और आगे भी करेगा, उसमें भारत के प्रधानमन्त्री को क्या करना चाहिए? इस पर हमारे देश के प्रधानमन्त्री का उत्तर यही होगा

कि हमें अमरीका का साथ देना चाहिए और जब भी वह ईरान पर कोड़े फटकारे और हमला करे तो अमरीका का खुला या चुप रहकर समर्थन करना चाहिए। अमरीका के दबाव में ही भारत ने अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी की बैठक में ईरान के खिलाफ वोट दिया जबकि वेनेजुएला ने विरोध किया था और पाकिस्तान समेत कुल 10 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के देशों ने खुद को उस फैसले से अलग रखा था। स्पष्ट है कि अमरीकी हितों से सम्बन्धित भारत सरकार के महत्वपूर्ण फैसले अब नयी दिल्ली की जगह वाशिंगटन में होने लगे हैं।

इसके पहले जब भाजपा के लोग सरकार में थे तो उन्होंने इराक में अमरीका की तरफ से अपनी सेना भेजने की बार-बार पहल की और उनके बाद आयी सोनिया-मनमोहन की सरकार ने भी कोशिशें जारी रखी, लेकिन संसदीय वामपन्थ के दबाव में और जनता के भय से वे ऐसा करने की हिम्मत नहीं जुटा सके। यहाँ की दोनों प्रमुख पार्टियों और शासक वर्गों की मंशा साफ है। जनता क्या चाहती है, यह भी साफ है।

किसी देश की विदेश-नीति उस देश की घरेलू नीति का ही विस्तार और प्रतिफल होती है। साथ ही, किसी खास दौर में अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति, दुनिया-भर में वर्ग शक्तियों का सन्तुलन और उसमें होने वाले परिवर्तनों का भी इन नीतियों पर प्रभाव पड़ता है।

विदेश-नीति में हो रहे परिवर्तनों की चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले भारत के शासक वर्गों की घरेलू नीति और उसमें हुए परिवर्तनों का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करना जरूरी है। विदेश-नीति के प्रति भारत के शासक वर्गों के रवैये में जिन बदलावों की एक झलक ऊपर प्रस्तुत की गयी है, उन्हें घरेलू नीतियों के सन्दर्भ में ही बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

भारत की घरेलू नीतिः नेहरू की नीतियों की विफलता, गतिरोध और नीतियों में बदलाव

अपनी मृत्यु के ठीक पहले नेहरू ने भारतीय संसद में अपनी नीतियों की विफलता को स्वीकार किया था। क्या थी यह विफलता? इसकी संक्षिप्त चर्चा हम आगे करेंगे। नेहरू के बाद अल्पकाल के लिए प्रधानमन्त्री बने लाल बहादुर शास्त्री, फिर इन्दिरा गाँधी, उसके बाद थोड़े समय के लिए सत्ता में आयी जनता पार्टी के मोरारजी देसाई, फिर इन्दिरा गाँधी और उसके बाद राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्रित्वकाल में देश का चौतरफा संकट–आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संकट लगातार गहराता गया। राजीव के प्रधानमन्त्रित्व में साम्राज्यवादी समूह पर निर्भरता बढ़ती चली गयी और देश के उत्पादन और वितरण को धनाढ्यों, नवधनाढ्यों और अभिजात वर्ग के पक्ष में मोड़ा गया, फलस्वरूप 1990 तक आते-आते देश दिवालिया होने के कगार पर पहुँच गया।

प्रश्न है कि यह देश दिवालिया क्यों बना?

आजादी के बाद पूँजीवादी विकास की दिशा और गति का नियामक था 1945 का टाटा-बिड़ला प्लान, जिसे लोग नेहरू के पूँजीवाद या ''समाजवाद'' के रूप में जानते हैं। इसकी सबसे बड़ी सीमा यह थी कि देश-भर में मुकम्मिल भूमिसुधार करने के बजाय इसे आधे-अधूरे ही किया गया– कहीं कम, कहीं बहुत कम और कहीं बिल्कुल भी नहीं। इन सीमित भूमिसुधारों ने गाँवों में सामन्तों को आधे-अधूरे पूँजीवादी खेतिहर के रूप में तब्दील किया। नये धनी किसान भी पैदा हुए जो पहले जमीन जोतते तो थे लेकिन उनमें से ज्यादातर के मालिक नहीं थे। राजा-महाराजाओं और बड़े सामन्तों ने अपनी दौलत को पूँजीवादी संस्थानों में लगाया तथा सामन्तशाही को कायम रखते हुए नये पूँजीवादी संस्थान खड़े करके पूँजीपति में तब्दील हो गये। गाँव में इसी वर्ग का शासन और तानाशाही कायम रही, उत्पादन पर इन्हीं का अधिकार रहा, वितरण का बहुलांश भी इन्हीं के हाथ में रहा। आज भी इस हालात में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

जनता के खून-पसीने से उगाहे गये पैसे से केन्द्र और राज्यों में हजारों निगमों को खड़ा किया गया। बड़े-बड़े बाँध और सिंचाई परियोजनाएँ बनीं, निजी क्षेत्र, सरकारी क्षेत्र और मिले-जुले क्षेत्रों में कल-कारखाने बने, आधारभूत उद्योग- धन्धों का भी विकास हुआ। शुरू-शुरू में '50 के दशक में लोगों की कुछ उम्मीदें बनीं लेकिन इस दशक के अन्त में ही संकट के लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगे। '80 के दशक तक आते-आते सब कुछ ठहराव का शिकार हो गया। उद्योग- धन्धे, खेती-बाड़ी, हरितक्रान्ति सब कुछ ही ठहर-सा गया। लेकिन आजादी के बाद की सारी योजनाओं और सारे विकास ने देश के महज 25% लोगों को ही छुआ। पूँजीपति, बड़े व्यापारी, ठेकेदार, संसदीय पार्टियों के नेता, मुम्बई के सिनेमा की दुनिया के लोग, खेलकूद, खासकर क्रिकेट से सम्बन्धित आज के हीरो, सेना, पुलिस और नागरिक सेवाओं में कार्यरत नौकरशाह, काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था में लगे अपराधी, स्मगलर, निगमों के मुख्य कार्यकारी अधिकारी और इलेक्ट्रॉनिक व प्रिण्ट मीडिया में काम करने वाले उच्चपदस्थ व्यवस्था-परस्त बुद्धिजीवी–इन सबने मिलकर जनता की गाढ़ी कमाई को बेरहमी से लूटा और अपनी तिजोरियाँ भरीं। इस ध न का एक बड़ा हिस्सा उद्योग-धन्धों में न लगकर उपभोग में खर्च हुआ। आज यही लोग देश का संचालन करते हैं और यह समूह

एक अति विशेषाधिकार सम्पन्न तबके-सा, एक जाति-सा बन चुका है।

इसके निचले पायदान पर हैं–गाँव के नवधनाढ्य किसान, निगमों में काम करने वाले कर्मचारी–इसमें वित्तीय और मैन्यूफैक्चरिंग (विनिर्माण) दोनों क्षेत्रों में कार्यरत कर्मचारी शामिल हैं, मझोले और निचले दर्जे के सरकारी और गैर-सरकारी कर्मचारी, तकनीकी संस्थानों, विश्वविद्यालयों और कालेजों में पढ़ाने वाले अध्यापक, विभिन्न जगहों पर कार्यरत बुद्धिजीवी और इन सबके परिवार वाले। ये लोग भी 20-25 करोड़ लोगों के भीतर आते हैं और गरीब जनता ओर ऊपर वाले लोगों के बीच का हिस्सा हैं।

आबादी का बाकी 75% हिस्सा तमाम लाभों से वंचित रहा। दुस्सह वेदना और अथाह पीड़ा के अलावा उन्हें कुछ भी नहीं मिला। 1947-50 में भारत एक कृषि-प्रधान देश था, 80% से ज्यादा लोग गाँव में रहते थे और खेती-बाड़ी पर निर्भर थे। आज भी भारत के 60% से ज्यादा लोग गाँवों में रहते हैं, और खेती-बाड़ी पर निर्भर करते हैं। हालाँकि देश के कुल उत्पादन में उद्योग और सेवाओं की तुलना में खेती का हिस्सा लगातार कम होता जा रहा है और घटकर मात्र 21% रह गया है, लेकिन फिर भी देश की आबादी का बड़ा हिस्सा आज भी इसी पर निर्भर रहने के लिए बाध्य है। उद्योग- धन्धे और सेवा क्षेत्र भारत की देहाती आबादी को रोजगार देने में अक्षम हैं। महानगरों की गाँव से आयी आबादी का तीन-चौथाई हिस्सा जिस रौरव नर्क की जिन्दगी जीने के लिए बाध्य है, वह इसका जीता-जागता प्रमाण है। खेती इनका बोझ सँभाल नहीं पा रही है और उद्योग-धन्धों और सेवाओं को उनकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार यह भारी आबादी शहरों में आवांछित है और अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य है।

1947 के पहले भारत पर दो बड़े बोझ थे, इसके विकास में दो बड़ी बाधाँए थीं–उपनिवेशवाद और सामन्तवाद। 1960 तक अनौपनिवेशीकरण का काम काफी हद तक पूरा हुआ और उद्योग-धन्धो का भी एक हद तक विकास हुआ। उस समय की अनुकूल अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में यह काम एक हद तक पूरा हो सका। लेकिन देश के विकास में दूसरी सबसे बड़ी बाधा सामन्तशाही बनी रही। इस सामन्तशाही का उन्मूलन पूरी तरह न हो पाना ही आज के भारत की सारी समस्याओं के मूल में है। अनौपनिवेशीकरण के बाद भारत के सामने मुख्य चुनौती एक सही लोकतन्त्र की स्थापना करने की थी। भूमि सम्बन्धों में उग्र परिवर्तन के बगैर और पूरे समाज में ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर सत्ता और सम्पत्ति की उलट-पुलट के बगैर यह सम्भव ही नहीं था। परोपजीवी वर्ग के खात्मे के बिना परोपजीविता, परोपजीवी मानसिकता और इसके ऊपर टिकी हुई सामन्ती संस्कृति, प्राचीन भारतीय समाज के जीवन मूल्यों के अवशेष और मध्य युग के जीवन-मूल्यों का खात्मा हो ही नहीं सकता था।

यह सामन्तवाद-विरोधी और जनता के सच्चे लोकतन्त्र के लिए संघर्ष होता जिसका केन्द्रीय और मूल काम होता–भूमि सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन, अर्थात् समान्तशाही को और परोपजीवी वर्गों को पूरी तरह से सत्ताच्युत कर दिया जाता और मेहनतकशों और जमीन को जोतने वालों का जमीन पर अधिकार कायम कर दिया जाता। यह उग्र क्रान्तिकारी परिवर्तन सामन्तवाद की जड़ों को उखाड़ फेंकता और अधिरचना में व्याप्त परजीविता के दर्शन और मध्युगीन जीवन-मूल्यों का जलाकर राख कर देता। इससे जो ऊर्जा विकिरित होती वह भारतीय समाज को विकास की ओर लम्बे डग भरने का मार्ग प्रशस्त कर देती। लेकिन यह नहीं हुआ। 1974 के बाद देश का शासक वर्ग और कांग्रेस की पहली सरकार से लेकर आज तक जितनी भी सरकारें सत्ता में आती-जाती रही हैं, कोई भी इस काम को नहीं कर सकी।

इसतरह उत्पादक शक्तियों का सबसे महत्वपूर्ण घटक आदमी आजाद ही नहीं हो सका। उसकी हथकड़ी-बेड़ियाँ टूट ही नहीं सकीं और परोपजीवी वर्ग राजसत्ता की मदद से उसकी छाती पर चट्टान बनकर एक दु:स्वप्न की तरह लदा रहा। देश में जो भी थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए या हो रहे हैं, उनकी रफ्तार घोंघे की है। पूरे भारतीय समाज को एक दुस्सह वेदना और पीड़ा के पारावार में धकेल दिया गया है। आजादी के बाद 58 साल के अन्तराल के बाद भी यह काम अधूरा ही है। इस समस्या की प्रकृति, स्वरूप और आयाम में बहुत से बदलाव आये हैं और अलग-अलग इलाकों में भिन्न-भिन्न समाधानों की जरूरत है।

हमारे देश में अगर यह एक केन्द्रीय काम पूरा कर लिया जाता तो पूरी आबादी के हाथों में क्रयशक्ति आ सकती थी और देश के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता था। हमारे देश में एक अरब लोग रहते हैं। बामुश्किल लोगों के खाने भर का अनाज पैदा होता है और वह भी बिक नहीं पाता, गोदामों में सड़ता रहता है क्योंकि 75 करोड़ लोगों के पास क्रयशक्ति नहीं है। कपड़े के कारखानों में कपड़े का अम्बार लगा हुआ है, उधर 75 करोड़ लोग नग्न और अर्द्धनग्न अवस्था में रहने के लिए विवश हैं। बहुत बड़ी आबादी महानगरों और सभी शहरों में जाड़ा, गर्मी और बरसात सहते हुए सड़कों के किनारे या झुग्गी-झौपड़ी में जीवन बसर करती है, उनके पास मकान नहीं हैं। लेकिन मकान बनाने के लिए जरूरी सामानों की बिक्री नहीं हो पाती। अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, अर्द्धसाक्षर, निरक्षर बच्चों और वयस्कों की एक भारी-भरकम फौज हमारे देश में मौजूद है। करोड़ों की संख्या में पढ़े-लिखे नौजवान बेरोजगार बैठे हैं, जबकि इनके बल पर पूरे देश को थोड़े समय में ही साक्षर और शिक्षित किया जा सकता है। किसान और मजदूर आत्महत्याएँ करते हैं क्योंकि उनका माल बाजार में बिक नहीं पाता और क्योंकि

वे कर्ज नहीं चुका पाते, दूसरी ओर 75 करोड़ लोग उनके बनाये सामानों के लिए तरस रहे हैं और उन्हें दो जून भरपेट भोजन मयस्सर नहीं है। सारी की सारी आदिवासियों की आबादी, अनुसूचित जाति के लोगों का बहुलांश, पिछड़ी और अन्य पिछड़ी जातियों के बीच के मुट्टीभर लोगों को छोड़कर सभी, स्त्री-समुदाय और बहुत से अन्य मेहतकश लोग, जो भारत की आबादी के 75% हैं, जीवन की सारी आवश्यकताओं से वंचित अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि सड़े-गले उच्छृंखल साम्राज्यवादी मूल्यों और मध्ययुगीन मूल्यों को तथा उन मूल्यों को भी जो अपनी स्वाभाविक मृत्यु का वरण कर रहे थे, शासक वर्ग पुनर्जीवित करके गरीब जनता की पीठ पर लादता जा रहा है। इससे शासक वर्गों का एक क्षुद्र स्वार्थ सिद्ध होता है कि ये लोग यह न देख पायें कि इनकी बदहाली के लिए सचमुच कौन जिम्मेदार है।

'80 के दशक में ठहराव का जो मूल कारण था उसे हटाने की बात तो दूर, यहाँ के शासक वर्गों ने उसे नोटिस में लेना भी जरूरी नहीं समझा और एक ऐसी नीति का अनुगमन किया जो देश हे हित के विरुद्ध और उनके संकीर्ण क्षुद्र स्वार्थों को पूरा करती थी।

भारत-चीन सीमा युद्ध के बाद अमरीकी साम्राज्यवाद पर इनकी निर्भरता, भारत-पाकिस्तान युद्धों के फलस्वरूप सेना पर बेतहाशा खर्च, देश के भीतर की राष्ट्रीयताओं के दमन के लिए सैनिक और अर्द्धसैनिक बलों पर होने वाले खर्च तथा गरीब जनता के दमन के लिए पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों पर होने वाले खर्च ने अर्थव्यवस्था के दिवालिया होने में मदद की।

इनकी प्रतिक्रियावादी नीतियाँ और ज्यादा प्रतिक्रियावादी बनती गयीं और देश के स्वतन्त्र विकास का रहा-रहा सपना भी दफ्न कर दिया गया। देश के शासक वर्गों ने मिलजुलकर यह तय किया कि देश की समस्या का समाधान उनके पास नहीं बल्कि साम्राज्यवादी समूह के पास है। 1990 में दुनिया के पैमाने पर हुए परिवर्तानों और इसके चलते वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में आये बदलावों ने भी इस फैसले को आगे बढ़ाने में मदद की।

1990 से लेकर अब तक के 16 वर्षों में वे सारी नीतियाँ बदल गयी हैं या बदली जाती रही हैं, जो थोड़ी-बहुत जनता के पक्ष में थीं। इन नीतियों का लुब्बेलुबाब मतलब है—मजदूर-किसान, समूची मेहनतकश जनता और मध्यवर्ग की घोर उपेक्षा, सब कुछ कुलीनों के लिए, सब कुछ साम्राज्यवादी समूह और उनके विभिन्न इजारेदार समूहों के लिए और उनके भोजन कर लेने के बाद जो कुछ उच्छिष्ट या जूठन उनसे बच जायेगा, वह भारत के गरीबों के लिए। इसे ही अंग्रेजी में 'ट्रिकिल डाउन' कहते हैं। भारत की नीतियों का संचालन आज साम्राज्यवादी समूह, उनके इजारेदार समूह और उनसे कदम मिलाकर चलने वाले भारत के पूँजीपतिवर्ग, राजनेताओं और नौकरशाहों द्वारा किया जा रहा है। हमारे देश का अभिजात वर्ग और उसका तन्त्र अपनी नीतियों के लिए साम्राज्यवादी समूह और उनके इजारेदार समूहों का मोहताज है।

क्या साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के इस काल में इनके पास कोई और विकल्प नहीं था? बेशक और विकल्प भी थे और हैं जो देश की जनता और समूचे देश के हित में होते, लेकिन अपने संकीर्ण क्षुद्र स्वार्थों के लिए इनकी अदूरदर्शी नीतियाँ देश को विदेशी थैलीशाहों के रहमोकरम पर डाल रही हैं। गरीब लोग हाशिये से भी मिटा दिये गये हैं और जो लोग पहले किसी तरह से जी लेने की कोशिश कर रहे थे, उन्हें हाशिये पर धकेल दिया गया है—ऐसे लोगों के लिए अब इस देश में कोई जगह नहीं रह गयी है। देश के अमीर और कुलीन वर्ग ने अपने लिए ऐश्वर्य और सुविधा के नये-नये टापुओं का निर्माण किया है और करता जा रहा है, जहाँ विदेशी थैलीशाहों और उनके उच्च-पदस्थ कर्मचारियों के साथ वे चैन से रहेंगे। एक तरह से उन्होंने अपने को भारत की जनता से अलग करके साम्राज्यवादी समूह के साथ कर लिया है। सारत: और सच्चे अर्थों में वह आज अलगाववादी है, पृथकतावादी है, देशद्रोही और गद्दार है। विदेशियों के इशारों पर और उनके हितों के लिए देश की आम जनता पर गोली चलाना इसके लिए आम बात है। देशी-विदेशी धनवानों के छोटे से छोटे हितों को बचाने के लिए गरीबों को उनके घरों से उजाड़ देना, उनका बर्बर दमन और उत्पीड़न करना रोजमर्रा की घटनाएँ बनती जा रही हैं।

यहाँ का शासक वर्ग और सरकार न केवल गरीब जनता का श्रम बल्कि यहाँ की सारी भौतिक सम्पदा, खेत-खलिहान ओर उद्योग-धन्धे कौड़ियों के मोल देशी-विदेशी धनाढ्यों को बेच रहे हैं। लेकिन महज इतने से ही वे सन्तुष्ट नहीं हैं। वे यहाँ के पहाड़, जंगल, नदी, झरने, ग्लेशियर, हवा-पानी और आसमान तक सब कुछ बचेने के लिए तैयार बैठे हैं। इनकी मंशा बिलकुल साफ है, डर है तो केवल जनता का।

भारत के शासक वर्ग और संसद की ज्यादातर राजनीतिक पार्टियों के लोग रोज ही देश के मेहनतकशों को समझाते रहते हैं कि उन्हें लूटने दो, उन्हें शोषण करने दो, विरोध और प्रतिवाद मत करो, नहीं तो वे हमारे देश में इन कुकृत्यों को करने नहीं आयेंगे और तुम भूखे मर जाओगे। वे खुद तो मेरुदण्ड-विहीन केंचुओं की तरह इन देशी-विदेशी थौलीशाहों के समाने रेंगते ही हैं, भारत के मेहनतकशों के लिए भी उनकी यही एकमात्र सलाह है।

संक्षेप में आज यही है भारत के शासक वर्गों और उनकी राजनीतिक पार्टियों की घरेलू नीतियाँ। ये नीतियाँ भारत की ज्यादातर संसदीय पार्टियों की आम सहमति की नीतियाँ हैं। कांग्रेस और भाजपा इसके पहिये हैं। बाकी क्षेत्रीय पार्टियों का व्यवहार उनके संर्कीण स्वार्थों और कुर्सी के स्वार्थ से निर्धारित होता है। वे बिना

पेंदी के लोटे की तरह हैं। संसदीय वामपन्थ इनका विरोध जरूर करता है लेकिन फिर मान भी लेता है। मनमोहन सिंह बराबर यह कहते हुए पाये जाते हैं कि हम अपने वामपन्थियों को मना लेंगे। संसदीय वामपन्थ की कार्यसूची से क्रान्ति बहुत पहले ही हटायी जा चुकी है। उनके पास कोई वैकल्पिक कार्ययोजना नहीं है जिसे लोगों के सामने प्रस्तुत कर सकें। अब वे नेहरू के समाजवाद को बचाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाते हुए दिखायी देते हैं। वे यह कहते हुए लगातार पीछे हटते जा रहे हैं कि ''अबकी मारो तो देखेंगे।'' वे नेहरू के ''समाजवाद'' को, जो उस समय के भारतीय पूँजीपति वर्ग और शासक वर्गों की जरूरत का पूँजीवाद था, बचाने का प्रयास कर रहे हैं जिसे आज खुद पूँजीपति वर्ग ही तिलांजलि दे चुका है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि क्रान्ति का परित्याग करने के बाद वे ऐसी हास्यास्पद स्थिति में दिखें।

भारत की विदेश-नीतिः गुट-निरपेक्षता से अमरीकी साम्राज्यवाद की वैश्विक रणनीति का हिस्सा बनने की ओर

राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल कर लेने के पहले से ही देश के शासक वर्गों और उनकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस की यह आकांक्षा थी कि वे देश के भीतर और बाहर एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करें। इसके लिए उन्होंने प्रयास भी किये लेकिन उसमें इनको सफलता नहीं मिली। फिर भी, भारत की घरेलू और विदेश नीति 1980 के दशक तक मूलतः यहाँ के शासक वर्गों के हित में थी और उनके द्वारा संचालित और नियमित होती रही। भारत के शासक वर्ग की आकांक्षा क्यों पूरी नहीं हुई, इसका कारण हम ऊपर बता चुके हैं। विदेश-नीति के मामले में यहाँ के शासक वर्गों की एक महती अव्यावहारिक और अयथार्थपरक महत्वाकांक्षा थी जो भारत-चीन सीमा युद्ध के बाद हमेशा के लिए दफ्न कर दी गयी। फिर भी एक लम्बे समय तक यानी 1947 से लेकर 1980 तक एक निर्गुट नीति का पालन होता रहा। भारत के शासक वर्गों की यह तटस्थता की नीति तत्कालीन अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में इनके वर्ग हितों के अनुरूप थी और ऐसा कर सकना सम्भव भी था। इस पूरे दौर में बहुत सारी विच्युतियाँ ओर विकृतियाँ भी रहीं–कभी अमरीकी साम्राज्यवादी वर्चस्व तो कभी रूसी साम्राज्यवाद का वर्चस्व इनकी विदेश-नीति को प्रभवित करता रहा, लेकिन कुल मिला-जुलाकर भारत तटस्थता की विदेश-नीति पर कायम रहा। 1980 के दशक में भारतीय शासक वर्ग चौतरफा संकट का शिकार हो गया–विचाराधारा का संकट, आत्मविश्वास का संकट, स्वावलम्बन और स्वाभिमान का संकट सब एक साथ ही आ उपस्थित हुए। भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के ठहराव और स्वयं अपने दम पर इसका कोई विकल्प न ढूँढ पाने के संकट का विकल्प इन्होंने साम्राज्यवादी समूह पर निर्भर रहकर खोजने का प्रयास किया।

साम्राज्यवादी समूह पर उनकी निर्भरता और उनके समक्ष घुटने टेकने के पीछे 1989-90 में दुनिया की राजनीति में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों की भी भूमिका है। सोवियत संघ के पतन और उसके खेमे के बिखरने के चलते दुनिया का शक्ति-सन्तुलन अमरीकी साम्राज्यवादी समूह के पक्ष में झुक गया था। इस अवसर का लाभ उठाते हुए अमरीका ने अपनी चौधराहट को पुख्ता बनाने की कोशिशें शुरू की। भारतीय शासक वर्गों को अपने संकट का समाधान साम्राज्वादी समूह पर निर्भरता के रूप में खोजने में इस परिस्थिति ने उत्प्रेरक का काम किया।

तभी से धीरे-धीरे तटस्थता की नीति का परित्याग होने लगा। उसके हिसाब से ही बाहर के देशों के साथ उनके सम्बन्ध बनने लगे, देश के व्यापक हितों का परित्याग किया जाने लगा तथा धीरे-धीरे वे तटस्थ राष्ट्रों की बिरादरी से अलग-थलग पड़ने लगे और साम्राज्यवादी देशों के मुखापेक्षी बनने लगे।

अमरीका नोट छापने की जानकारी नहीं देगा

गत 23 मार्च से अमरीका के केन्द्रीय बैंक 'फेडरल रिजर्व' ने अमरीकी अर्थव्यवस्था के मुद्रा भण्डार के बारे में जानकारी प्रकाशित करना गुप-चुप तरीके से बन्द कर दिया है। यानी अब फेडरल रिजर्व कितने नोट छापेगा इसका कोई हिसाब वह दुनिया के सामने पेश नहीं करेगा।

अमरीकी अर्थव्यवस्था की सेहत काफी खराब हो चुकी है। स्थिति यह है कि उसका बजट घाटा 800 अरब डॉलर और भुगतान सन्तुलन घाटा 700 अरब डॉलर तक पहुँच चुका है जिनका कुल योग भारत के सकल घरेलू उत्पाद से भी ज्यादा है। अमरीका इस घाटे को पूरा करने के लिए चीन, जापान और अन्य देशों से ऋण लेकर अपने उपभोग के स्तर को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है।

दुनिया-भर की कमजोर अर्थव्यवस्थाएँ अपने बजट घाटे को पूरा करने के लिए बेहिसाब नोट छापती रहीं हैं। अब अमरीका भी यही करेगा। यह अमरीकी अर्थव्यवस्था के और अधिक कमजोर होने का प्रमाण है। पहले डालर की साख इसलिए थी कि दुनिया जानती थी कि उसके पीछे अमरीकी सम्पदा का सहारा है लेकिन अब वह भी दूसरे देशों की मुद्राओं की तरह ही हो जायेगा। अमरीका मनमाने ढंग से नोट छापेगा और इस बात को दुनिया से छिपायेगा ताकि अन्य देशों के साथ दाँव-पेच कर सके। (टाइम्स ऑफ इण्डिया, 27 अप्रैल और 3 मई 2006)

1990 के दशक के शुरू में दुनिया के पैमाने पर सत्ता के बहुकेन्द्रों की चर्चाएँ होती रहीं । रूस और चीन से सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयास हुए। चीन के साथ सीमा-विवाद सुलझाने की भी कोशिशें हुई। लेकिन जैसे-जैसे घरेलू नीतियों में देशी-विदेशी धनवानों और थैलीशाहों के पक्ष में परिवर्तन होने लगे, भारत को उनके बाजार के रूप में परिवर्तित करने के प्रयास होने लगे और किसी भी कीमत पर विदेशी पूँजीनिवेश हासिल करने की कोशिशें होने लगीं, वैसे-वैसे इनकी विदेश-नीति क्रमशः साम्राज्यवादी समूह की ओर लगातार झुकती गयी।

आज आलम यह है कि भारतीय शासक वर्ग अपनी विदेश-नीति को अमरीकी साम्राज्यवाद के हिसाब से ढालने के लिए लगातार प्रयासरत है और अमरीका की वैश्विक रणनीति का छुटभैया और क्षेत्रीय लठैत तक बनने की भूमिका में उतरने के लिए उद्धत दिखायी देता है। बुश और मनमोहन सिंह के बीच हुआ हाल का नाभिकीय समझौता इस बात पर मुहर लगा देता है। नाभिकीय ऊर्जा क्षेत्र में थोड़ी सी रियायतों को पाने के लिए और दूसरे दर्जे की हैसियत स्वीकृत करवाने के लोभ में वे अमरीका के पीछे जा खड़े हुए हैं। इसतरह वे अमरीका के विश्वव्यापी मन्सूबे और दुनिया पर प्रभुत्व कायम करने की उसकी रणनीति का अंग बनते जा रहे हैं। अमरीका के पीछे-पीछे चलते हुए अब वे दुनिया में ''लोकतन्त्र'' बहाल करने की अमरीकी मुहिम में भागीदार बनेंगे और उसके द्वारा प्रस्फोटित और प्रायोजित नारंगी, केसरिया, गुलाबी ओर पीली क्रान्तियों में हिस्सा लेंगे, जिनकी योजनाएँ वाशिंगटन के विदेश और रक्षा मंत्रालयों में तैयार की जाती हैं। वे अमरीकियों के लिए भारत का बाजार पूरी तरह खोल देने के लिए तैयार हैं–यहाँ के कच्चे माल और थोक-खुदरा व्यापार से लेकर हवा-पानी तक को उनके नियन्त्रण में देने के लिए बेताब हैं और इसतरह, यहाँ का शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टियाँ दुनिया की एक महाशक्ति बन जाने का ख्वाब देखती हैं।

भारत के बाजरों और गली-कूचों में शेखचिल्ली भिखरियों की कमी नहीं है। कोई जगद्गुरू होने का ख्वाब देखता है, कोई पूरी मानवता को दुख-दर्दों से मुक्ति दिलाने का, तो कोई एशिया और विश्व की महानतम शक्ति बन जाने का। यही स्थिति भारत के शासक वर्ग की भी है। अपनी हैसियत पर ध्यान देने के बजाय वह ऐसे ही शेखचिल्लीनुमा ख्वाब देखने लगा है। देशी-विदेशी थौलीशाहों द्वारा नियन्त्रित और संचालित प्रिण्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया लगातार इसे हवा दे रहा है और भारत की जनता को यह समझाने का प्रयास कर रहा है कि भारत जल्द ही एक महाशक्ति बन जायेगा। बस जरूरत इतनी है कि कुछ दिनों के लिए खाना बन्द कर दो, शोषण होने दो, गालियाँ खाओ पर उफ तक नहीं करो।

हमारी विकास दर 8-10% तक पहुँचने वाली है और सारी दुनिया हमारे यहाँ पूँजी लगायेगी। पहले हमारे देश में तीन ही अरबपति थे, आज 33 हो गये हैं। हमारे देश के लक्ष्मी मित्तल दुनिया के सातवें नम्बर के धनी व्यक्ति हैं। हमारे लोगों ने अमरीका में यह किया, ब्रिटेन में वह किया और अब भारत की जनता को साँसें रोक कर प्रतीक्षा करनी चाहिए–दूध-घी और शहद की बारिश होने वाली है। मध्यमवर्ग की बीच के पढ़े लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा जो प्रचारतन्त्र, प्रिण्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा चलाये जा रहे इस षड्यन्त्र को समझने में असमर्थ है और जो कुछ छपता है या टी.वी.-रेडियो में प्रसारित होता है, उसकी सच्चाई और पवित्रता पर पूरी तरह भरोसा करता है, इसके झाँसे में आ चुका है।

भारत की ईरान-नीति उसकी विदेश-नीति में आ रहे बदलावों का सबसे स्पष्ट उदाहरण है। अब वाशिगंटन यहाँ तक तय करने लगा है कि ईरान के प्रति हमारी नीति क्या होनी चाहिए। हमारी ऊर्जा की जरूरतों और इससे सम्बन्धित नीतियों को वाशिंगटन तय करने लगा है, यहाँ तक कि मन्त्री भी उनके इशारे पर बदले और बनाये जाने लगे हैं।

अमरीकी साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा भावी और सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी चीन है। अमरीका उसे घेरने की नीति तैयार का रहा है जिसमें भारत भी शामिल हो रहा है। अमरीका और भारत रोज सफाई देते रहते हैं कि हम चीन के खिलाफ नहीं हैं, उसकी कीमत पर हमारे बीच के सम्बन्ध नहीं बढ़ रहे है। हमारे यहाँ एक कहावत कही जाती है कि ज्यादा सफाई देना या बिना पूछे सफाई देना चोर और अपराधी का लक्षण है।

ईरान गैस पाइप लाइन खटाई में पड़ चुकी है। भारत-चीन रिश्तों में खटास आ गयी है। भारत-रूस रिश्तों में भी खटास दिखने लगी है। अमरीका और उसके अनुगामी साम्राज्यवादी समूह को छोड़कर भारत सभी देशों से अलग-थलग पड़ने लगा है। हालाँकि अभी अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य काफी तरल है, नये-नये गँठजोड़ और जोड़-तोड़ के प्रयास जारी हैं, चीन भारत को अमरीका से दूर ले आने या तटस्थ करने के प्रयास में लगा है, रूस की भी यही कोशिश है। ईरान मसले पर कई बार खिलाफ वोट देने के बावजूद ईरान पूरी तरह नाउम्मीद नहीं है। हालाँकि दुनिया की राजधानियों में यह आम चर्चा है

कि भारत अमरीकी साम्राज्यवाद के विश्व प्रभुत्व के रणनीतिक प्रयास में एक क्षेत्रीय सिपहसालार भी भूमिका में आ चुका है।

यह सब कुछ एक ऐसे समय में हो रहा है जब डॉलर लड़खड़ा रहा है। चीन, जापान, भारत और दूसरे तमाम देशों के अमरीकी ट्रेजरी बॉण्ड खरीदने के बल पर अमरीका अपना खर्च चला रहा है। अब वह यह भी नहीं बतायेगा कि हर साल कितना डालर छापा जायेगा। यह सब कुछ अमरीकी अर्थव्यवस्था पर एक तल्ख टिप्पणी है। इराक में अमरीका पराजित हो चुका है, उसके सारे मन्सूबे बसरा, बगदाद और कर्बला के रेगिस्तानों में दफ्न होते दिखायी दे रहे हैं। इराक उसके गले में हड्डी की तरह फँस गया है जिसे न उगलते बनता है और न निगलते। ईरान उसके गले में एक और बड़ी हड्डी की तरह लटका दिखायी देता है। अगर अमरीका ईरान पर आक्रमण करता है तो खाड़ी के देशों और पूरे मध्यपूर्व का शिया समुदाय उसके खिलाफ उठ खडा होगा, ऐसा खतरा मौजूद है। अभी तक तो इराक के सुन्नी ही उसे दौड़ा-दौडा कर पीट रहे हैं, अगर शिया भी उनके साथ शामिल हो गये तो उसका क्या हश्र होगा? अप्रैल के महीने में पहले किसी भी समय से ज्यादा 69 अमरीकी सिपाही मारे जा चुके हैं। अगर अमरीका ईरान पर हमला नहीं करता है तो भी उसकी साख मिट्टी में मिल जायेगी। दोनों ही स्थितियाँ उसके प्रतिकूल हैं। दक्षिणी अमरीका के देशों में, अमरीकी साम्राज्यवाद के ठीक पिछवाड़े क्यूबा के मित्रों की संख्या बढ़ती जा रही है। वेनेजुएला के शावेज और बोलीविया के इवो मोरालेस से लेकर और नये-नये नाम उस कारवाँ में जुटते जा रहे हैं, जो अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रतिकूल है। पिछले दिनों बुश को दक्षिण अमरीका से अपनी प्रस्तावित 'अमरीकी देशों का मुक्त व्यापार संघ' (FTAA) योजना ठुकराये जाने के बाद पराजित और मायूस होकर लौटना पड़ा। अमरीका के मित्र देश ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री ब्लेयर और उसके सहयोगी अपने देश में जनता के कोपभाजन बने हुए हैं। उत्तरी कोरिया को झुकाने के उसके मन्सूबे पर पानी फिर गया है।

तुर्की, अस्ट्रेलिया और सउदीअरब जैसे उसके मित्र देश भी उसकी बातों पर तवज्जों नहीं दे रहे हैं। आस्ट्रेलिया ने हाल ही में चीन को यूरेनियम देने का समझौता किया है और तुर्की रूस से अपने सम्बन्ध आगे बढ़ा रहा है। सउदीअरब और चीन के बीच भी नये समझौते हुए हैं जिसमें पेट्रोलियम का रिजर्व कायम करने में चीन की मदद करने का समझौता भी शामिल है। गौरतलब है कि चीन को अमरीका अपना भावी दुश्मन या प्रतिद्वन्द्वी समझता है।

मध्यपूर्व, मध्य एशिया और यूरोप के देशों में अमरीका द्वारा प्रस्फोटित और संचालित नकली क्रान्तियाँ एक के बाद एक दम तोड़ चुकी हैं या तोड़ रही हैं। उज्बेकिस्तान से उसे भगाया जा चुका है और उसके सैनिकअड्डे समाप्त किये जा चुके हैं। अफगानिस्तान में करजई की कठपुतली सरकार है जो अमरीकी और नाटो के सैनिकों से घिरा हुआ अपनी ही सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता है। बामुश्किल काबुल पर भी उसका अधिकार नहीं है। हालाँकि अमरीका अभी भी दुनिया की सबसे बड़ी ताकत है लेकिन उसके चौतरफा पराभव के संकेत मिल रहे हैं। विश्व में उसके अकेले महाशक्ति बने रहने की सम्भावना क्षीण होती जा रही है और सत्ता के कई केन्द्र उभरने लगे हैं।

उगते और डूबते सूरज में बहुत फर्क होता है, हम अपने रोज-रोज के अनुभव से इस बात को जानते हैं, फिर भारत के शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टियों को अमरीका की विश्व रणनीतिक महत्वाकांक्षा के रथ का पहिया बनने की क्यों सूझी? सच है–विनाश काले विपरीत बुद्धि।

अभी इस स्थिति के बदलने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। वर्तमान घरेलू और विदेश-नीति जो किसी भी तरह से हमारे देश के हित में नहीं हैं, शासक वर्गों की अदूरदर्शिता, उग्र वर्गीय स्वार्थों, परजीवी मानसिकता और जल्दी से जल्दी अपनी पूँजी के विस्तार के वर्गीय स्वार्थ के चलते आगे ही बढ़ती दिखायी दे रही हैं।। बहुसंख्यक जनता को नरक की ओर धकेलने और राष्ट्र को कलंकित करने वाली इन नीतियों से तभी मुक्ति मिल सकती है जब इस पर लगाम लगाने के लिए जनता के बीच से व्यापक और उन्नत संघर्ष उठ खड़े हों। □

विश्लेषण

भारत की महाशक्ति बनने की महत्वकांक्षा को अमरीका क्यों शह देता है?

–'राजनीतिकअर्थशास्त्रकेलिएशोधइकाई',मुम्बई

मार्च 2005 में, अमरीकी विदेशमन्त्री कोण्डलीसा राइस ने वाशिंगटन द्वारा ''भारत को वैश्विक शक्ति बनाने'' के निर्णय की घोषणा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमरीकी हथियार-निर्माता अब भारत से हथियारों के बड़े सौदों की उम्मीद कर सकते हैं, लेकिन बात इतनी ही नहीं। यह निर्णय व्यापक रणनीतिक हितों को ध्यान में रखते हुए लिया गया है।

पहला, भारत की महत्वाकांक्षाएँ अमरीका की परेशानी का सबब नहीं हैं। वह जानता है कि भारत अपने दम पर एशिया में अपना दबदबा कायम करने में असमर्थ है। उदाहरण के लिए, भारत की त्वरित कार्रवाई करने में समर्थ एक ऐसी सेना के गठन की योजना जिसे हिन्द महासागर के आस-पास स्थित देशों में जरूरत के वक्त तुरन्त तैनात किया जा सके, तब तक लागू नहीं हो सकती जब तक वह हवा में ही ईंधन भरवा लेने की क्षमता और लम्बी दूरी तक तेज गति से मार करने वाले वायुयानों, हवा से हवा में पूर्व चेतावनी और आदेश देने में सक्षम वायुयानों, हमलावर हेलीकॉप्टरों और आई.एन.एस. विराट के अलावा एक और विमान-वाही पोत हासिल नहीं कर लेता। इसका एक अच्छा-खासा हिस्सा उसे अमरीका से आयात करना पड़ेगा (प्राकृतिक संश्रयकारी, पृ. 124)। देश के बाहर सेना ले जाकर किसी तरह का सैनिक हस्तक्षेप करने के लिए और भी बड़े आधारभूत ढाँचे की जरूरत पड़ेगी जो भारत के पास नहीं है। (दरअसल, यूरोपीय संघ के देशों के पास भी अमरीका की मदद के बिना किसी क्षेत्र में लगातार अपना सैनिक दबदबा कायम रखने लायक पर्याप्त आधारभूत ढाँचा नहीं है। यह बात बाल्कन संकट के समय स्पष्ट रूप से सामने आ गयी थी, जब अन्ततः उन्हें अमरीका को हस्तक्षेप के लिए बुलाना पड़ा।)

इसके अलावा, सैनिक ताकत के मौजूदा सन्तुलन को देखते हुए भारत द्वारा अपने को एक महाशक्ति के तौर पर स्थापित करने के प्रयास तब तक कहीं नहीं टिक पायेंगे जब तक अमरीका उसके खिलाफ खड़ा रहे। रिपोर्टों के मुताबिक 2003 में पूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने यह कबूल किया था कि महाशक्ति का दर्जा हासिल करने के उनके बीससाला कार्यक्रम के लिए अमरीका के साथ रणनीतिक साझेदारी बहुत जरूरी है, ''अन्यथा विदेशों में कहीं भी अपना प्रभाव और दबदबा कायम करने की भारत की क्षमता बुरी तरह संकट में पड़ जायेगी''(वही, पृ. 40)।

भारत के मन्सूबे को अमरीका द्वारा शह दिये जाने के पीछे दूसरा कारण यह है कि **ऐसा करना अमरीका के हितों के अनुकूल है।** अमरीका के कम से कम तीन महत्वपर्ण स्रोतों में निर्मम साफगोई के साथ इसका बयान किया गया है।

पहला स्रोत है–अमरीका के रक्षाविभाग द्वारा अक्तूबर 2002 में तैयार की गयी रिपोर्ट 'भारत-अमरीका सैनिक सम्बन्धः बोध और अपेक्षाएँ।' जूली ए. मेकडोनाल्ड द्वारा तैयार यह रिपोर्ट 42 महत्वपूर्ण अमरीकी नागरिकों–23 सैनिक अधिकारियों, 15 सरकारी अधिकारियों और 4 अन्य लोगों के अलावा भारत के 10 सैनिक और 5 सरकारी अधिकारियों, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के कई सदस्यों और भारत सरकार के विशेषज्ञ सलाहकारों के साथ साक्षात्कार पर आधारित है। दूसरा स्रोत है–भारत के पूर्व अमरीकी राजदूत राबर्ट ब्लैकविल के सहायक एश्ले जे. टेलीस द्वारा 2001-03 के दौरान लिखे गये लेख। आज की तारीख में वह भारत के बारे में अमरीकी नीतियों के एक प्रमुख विश्लेषक माने जाते हैं। तीसरा स्रोत है–सितम्बर 2005 में अमरीकी सैनिक युद्ध कालेज के रणनीतिक अध्ययन संस्थान के स्टीफन ब्लैंक द्वारा किया गया एक अध्ययन 'प्राकृतिक संश्रयकारी?' जिसका पहले हवाला दिया जा चुका है।

प्रसंगः दुनिया-भर में अमरीका का रणनीतिक परिदृश्य

ये अध्ययन अमरीकी साम्राज्यवाद की मौजूदा स्थिति और दुनिया-भर में उसके वर्तमान रणनीतिक परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित हैं। इसके बारे में हम 'इराक पर आक्रमण की असलियत' (बिहाइण्ड द इन्वेजन ऑफ इराक) में लिख चुके हैं, इसलिए यहाँ हम सिर्फ संक्षेप में उसका सार प्रस्तुत करेंगे।

सरसरी तौर पर देखने से प्रतीत होता है कि सोवियत संघ के पतन के बाद दुनिया-भर में अमरीकी वर्चस्व के

मार्ग में कोई गम्भीर चुनौती नहीं रह गयी है। उसके सैनिक खर्च दुनिया-भर में सेना पर होने वाले कुल खर्च का आधा है, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के शेष देशों (रूस, फ्रांस, चीन और ब्रिटेन) के कुल खर्च का लगभग 3.5 गुना है और अमरीका के बाद के बड़े सैनिक खर्च वाले 6 बड़े देशों (रूस, फ्रांस, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन और चीन–चीन के सैनिक खर्चों को आधिकारिक आँकड़ों से दोगुना मानने पर भी) के कुल सैनिक खर्च का दोगुना है। अमरीका ही एकमात्र ऐसा देश है जिसके पास सुदूर सैनिक अभियानों में भेजने और विदेशों में दीर्घकालिक युद्ध लड़ने के लिए, जैसे कि आजकल वह इराक और अफगानिस्तान में चला रहा है, पर्याप्त सेना और आधारभूत ढाँचा है। (फ्रांस और ब्रिटेन जैसे देश अपेक्षाकृत छोटी हस्तक्षेपकारी सेनाओं को तैनात करने में सक्षम हैं जो सिर्फ अफ्रीका के देशों में दोयम दर्जे की सेनाओं के खिलाफ ही कार्रवाई कर सकती हैं।)

फिर भी, टिकाऊ आर्थिक ताकत ही अन्ततः सैनिक ताकत का बल कायम रख सकती है। अमरीकी ताकत का आर्थिक आधार कमजोर है। दुनिया की आय में अमरीका का हिस्सा 1950 की तुलना में आधा गिरकर आज सिर्फ 21% रह गया है, मैन्यूफेक्चरिंग (विनिर्माण) में हिस्सा 1950 के 60% के स्तर से गिरकर 1999 में महज 25% रह गया और दुनिया-भर में हुए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में उसकी हिस्सेदारी 1960 के 47% के स्तर से घटकर 2001 में महज 21% रह गयी है।

निस्सन्देह अमरीकी अर्थव्यवस्था ''अच्छी चल रही है'' बतायी जाती है जबकि आज का अमरीकी आर्थिक विकास सरकारी और उपभोक्ता ऋणों के योजनाबद्ध और भारी-भरकम विस्तार के जरिये ही कायम रखा गया है। आयातित सामानों और सेवाओं का हिस्सा बढ़ता जा रहा है। इसप्रकार अमरीका का चालू खाता–सामानों और सेवाओं के व्यापार और पूँजीनिवेश से होने वाली देश की कुल आय और उसके खर्चों में अन्तर–पिछले दो दशकों से घाटे में चल रहा है और अब यह घाटा नियन्त्रण के बाहर हो चुका है। 2004 में यह घाटा 668 अरब डालर तक पहुँच गया था। 2005 में यह आँकड़ा और भी ज्यादा होगा। इस खाई को पाटने के लिए विदेशों से कर्ज लिये गये हैं जिसके चलते अमरीका आज दुनिया का सबसे बड़ा कर्जदार देश बन गया है।

अमरीका के चालू खाते का यह विशालकाय घाटा दुनिया की बचत के 70% से भी ज्यादा को सोखकर पूरा किया जा रहा है (जो अमरीकी बैंकों में जमा होते हैं)। दूसरे देश तीन कारणों से अपनी बचत अमरीका में रखते हैं–अमरीका दुनिया की प्रभुत्वशली साम्राज्यवादी ताकत है, अन्तरराष्ट्रीय भुगतानों के लिए आज भी डालर ही सबसे प्रमुख मुद्रा है और इनमें से बहुत से देश नहीं चाहते कि अमरीकी डालर की कीमत गिरे क्योंकि अमरीका उनके निर्यातों का मुख्य बाजार है।

हालाँकि यह खेल अनन्त काल तक नहीं चल सकता। कर्जे की किस्तें ओर ब्याज चुकाने के लिए भविष्य में अमरीका को अपनी राष्ट्रीय आय का बड़ा से बड़ा हिस्सा खर्च करना होगा। अन्तरराष्ट्रीय निवेशक और केन्द्रीय बैंक इस बात को जानते हैं और वे अपने निवेश को दूसरे देशों में स्थानान्तरित करने पर विचार कर रहे हैं। यदि ऐसा हुआ तो अमरीकी डालर के दाम गिर जायेंगे, अमरीका की ब्याज दरें बढ़ जायेंगी और अमरीकी अर्थव्यवस्था के विध्वंस का खतरा पैदा हो जायेगा।

इस सम्भावित घटना को टालने में अमरीकी सेना एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह दुनिया-भर में प्रभुत्वशाली साम्राज्यवादी शक्ति और इसी हैसियत के कारण दुनिया-भर की पूँजी के लिए एक सुरक्षित बन्दरगाह के रूप में अमरीका के ओहदे की हिफाजत करती है। यह दुनिया के अन्य देशों को विश्वास दिलाती है (उदाहरण के लिए इराक पर आक्रमण करके और दूसरे देशों को आक्रमण की धमकी देकर) कि तेल के व्यापार का बड़ा हिस्सा डालर में ही होता रहेगा। यह दुनिया के महत्वपूर्ण संसाधनों (जैसे तेल) और व्यापारिक मार्गों पर अपना प्रत्यक्ष नियन्त्रण कायम रखती है और अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए इसे अपने सम्भावनाशील प्रतिद्वन्द्वियों के खिलाफ तुरुप के पत्ते के तौर पर इस्तेमाल करती है। यह हथियारों की दौड़ में भी अपने सम्भावनाशील प्रतिद्वन्द्वियों को चुनौती दे सकती है ताकि उनकी अर्थव्यवस्थाओं की जड़ काट सके।

फिर अमरीका की सैनिक ताकत भी उत्तरोत्तर दुर्बल होती जा रही है। इसका पहला कारण यह है कि उसे पूरे विश्व को अपने दायरे में लेना और हर जगह प्रतिरोध को रोकना लाजिमी है क्योंकि उसकी सर्वश्रेष्ठता पूरी तरह से इस बात पर निर्भर है कि दूसरी कोई भी ताकत उसे चुनौती देने में समर्थ नहीं है। वह एक चिरस्थायी युद्ध की स्थिति में है। ठीक इस वजह से कि अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए वह हर कहीं हस्तक्षेप करती है और इसीलिए वह दुनिया-भर की साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों

का पहला निशाना है।

दूसरा, अमरीकी सेना परम्परागत किस्म की स्थायी सेनाओं को हराने के लिए पूरी तरह सुसज्जित है, लेकिन गुरिल्ला प्रतिरोध और व्यापक जनउभार से निपटने के मामलों में उसका रिकार्ड काफी खराब है। पहले वियतनाम की मुक्ति और इराकी जनता के वर्तमान प्रतिरोध से यह बात पूरी तरह पुष्ट हो जाती है। (ऐसे मामलों में वह नस्ली तनावों को छल-प्रपंच के जरिये अपने पक्ष में करके ही सफलता की आशा लगाते हैं।)

तीसरा, महान वियतनामी संघर्ष की एक विरासत यह भी है कि आज अमरीकी शासक वर्ग बड़े पैमाने पर अपने सैनिकों के मारे जाने और अनिवार्य सैनिक भर्ती के घरेलू राजनीतिक परिणामों से डरते हैं। इसतरह अमरीकी सेनाएँ, अपने वैश्विक वर्चस्व को कामय रखने के लिए अमरीका को जितने सशस्त्र बलों की जरूरत है, उससे काफी कम हैं। अमरीका आखिरकार सैनिकों की अनिवार्य भर्ती शुरू कर सकता है लेकिन घरेलू मोर्चे पर उसे इसके लिए भारी राजनीतिक कीमत चुकानी पड़ेगी।

अमरीका का नया 'वैश्विक सुरक्षा तेवर'

अपने विविध किस्म के और लगातार बदलते जा रहे राजनीतिक विरोधियों के ऊपर अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए ही अमरीका ने सैनिक अड्डों का एक विराट तन्त्र कायम किया है। नये सैनिक अड्डे बहुतायत में कायम हुए हैं जिसके कारण अमरीकी सेना और विरल हो गयी है। 2003 में पेण्टागन ने सैनिक अड्डों से सम्बन्धित एक नयी नीति की घोषणा की जिसके मुताबिक वह शीतयुद्ध के समय के बड़े सैनिक अड्डों (जो सोवियत संघ से युद्ध के लिए स्थापित किये गये थे) में से 35% को बन्द कर देगा और अतिरिक्त सेना को पश्चिमी एशिया और केन्द्रीय एशिया में, उसी के शब्दों में, ''अस्थिरता के चाप'' के इर्द-गिर्द बड़ी संख्या में स्थिति छोटे-छोटे सैनिक अड्डों पर स्थानान्तरित कर देगा। इन ''लिली पैड'' सैनिक अड्डों (अग्रिम कार्रवाई स्थल) पर स्थायी सुविधाएँ बहुत कम रखी जायेंगी और स्थायी टुकड़ियों की संख्या भी सीमित होगी। वे अमरीका से भेजी गयी गश्ती सेना की जैसी जरूरत हो वैसी मदद करेंगी।

यह नया 'वैश्विक सुरक्षा तेवर' दुनिया पर अमरीकी वर्चस्व की नयी जरूरतों से सम्बन्धित है:

> रक्षानीति के लिए उप रक्षासचिव डगलस फेथ के मुताबिक ''शीत युद्ध के दौरान हमें इस बात की एक पक्की समझ थी और हम जानते थे कि बड़े खतरे और लड़ाइयाँ कहाँ होने वाली हैं, इसलिए हम ठीक वहीं पर सेना तैनात कर सकते थे।'' ...लेकिन ''अब हम एकदम अलग अवधारणा से काम कर रहे हैं... हमें दुनिया-भर में कहीं भी हर तरह की सैनिक कार्रवाइयों (सीधे युद्ध से लेकर शान्ति कायम करने तक) को बहुत शीघ्रता से अंजाम देने में समर्थ होने की जरूरत है।'' भावी दशकों में आतंकवाद और दूसरे सम्भावित खतरों से, जिनमें तेल की आपूर्ति में बाधा पड़ना भी शामिल है, निपटने के लिए पेण्टागन अधिकतम लचीलापन लाने का प्रयास कर रहा है। इसलिए जितने देशों और जितने क्षेत्रों में सम्भव हो, उनके साथ तरह-तरह के समझौते करके सेना वहाँ अपने सैनिक अड्डे कायम करना और अपनी पैठ सुनिश्चित करना चाहती है।

मुख्य कार्यकारी सैनिक अड्डों और ''लिली पैड्स'' के साथ-साथ कुछ और छोटे-छोटे अड्डों का एक ढाँचा होगा जिन्हें ''सहकारी सुरक्षा स्थल'' कहा जायेगा। इन अड्डों पर अमरीकी सेना की स्थायी उपस्थिति नाममात्र की या बिल्कुल नहीं होगी और इनका रख-रखाव ''ठेकेदार या मेजबान देश के अधिकारी'' करेंगे। अमरीका इन स्थानों का अपनी मर्जी के मुताबिक इस्तेमाल करने की खुली छूट चाहता है।

> फेथ के मुताबिक पेण्टागन ऐसे पर्यावरण सम्बन्धी या राजनीतिक दबावों से बचना चाहता है जिनके चलते हाल के वर्षों में यूरोप में अमरीकी सैनिक प्रशिक्षण और तैनाती के विकल्प सीमित हो गये थे। फेथ ने कहा, ''यदि देश हमारे ऊपर इस तरह के प्रतिबन्ध लगाने जा रहे हैं जिनका मतलब यह हो कि हमने जिस उद्देश्य के लिए वहाँ सेना तैनात की उसी को हम पूरा नहीं कर सकेंगे तो हमें यह सोचना पड़ेगा कि हम वहाँ सेना तैनात करें या नहीं।''

भारत में सैनिक अड्डों और प्रशिक्षण सुविधाओं की आवश्यकता

प्रशान्त क्षेत्र में अमरीकी सैनिक कमान की विभिन्न सैनिक सेवाओं के प्रतिनिधियों से बातचीत पर आधारित अमरीकी वार कालेज के एक अध्ययन में मुँहफट भाषा में कहा गया है:

> ''हमें भारत से ठोस समर्थन की जरूरत है क्योंकि हमारे रणनीतिक हित और उद्देश्य वैश्विक हैं, जबकि उन्हें पूरा करने के लिए पर्याप्त सेना और दूसरे साधन हमारी जरूरत के अनुरूप नहीं हैं... हिन्द महासागर में डियागो गार्सिया से

लेकर प्रशान्त महासागर में ओकीनावा और गुआम तक कई हजार मील लम्बे चाप के इर्द-गिर्द अमरीकी सेना की उपस्थिति खतरनाक तरीके से कम है...।''

2001 का अमरीकी जर्नल 'चतुवार्षिक डिफेंस रिव्यू' खुलेआम यह दावा करता है कि एशिया में और ज्यादा सेनाएँ तैनात करने और सैनिक अड्डे कायम करने की जरूरत है ''क्योंकि सतरंगी सघंर्षो के चलते इस पूरे इलाके में खतरों का विस्तार हुआ है।'' 2002 में उप-सहायक रक्षासचिव पीटर ब्रुक्स ने कांग्रेस को बताया कि:

एशिया के रंगमंच पर दूरियाँ बहुत विराट हैं और दूसरे संवेदनशील इलाकों की तुलना में इस इलाके में अमरीका के सैनिक अड्डों का घनत्व और रास्ते में आधारभूत सुविधाएँ भी बहुत कम हैं। इसके अलावा दूसरे क्षेत्रों की तुलना में एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में मौजूद सुविधाओं तक पहुँच को लेकर भी अमरीका कम आश्वस्त है। इसलिए 'चतुवार्षिक डिफेंस रिव्यू' वहाँ और अधिक पैठ बनाने और आधारभूत ढाँचे से सम्बन्धित नये अनुबन्ध करने की जरूरत को रेखांकित करता है।

मैकडोनाल्ड के मुताबिक अमरीकी अधिकारीगण– अन्ततः भारतीय सैनिक अड्डों और सैनिक ढाँचे तक अपनी पैठ बनाने के अपने मन्सूबे को साफ तौर पर स्वीकार करते हैं। रणनीतिक तौर पर भारत का एशिया के केन्द्र में स्थित होना, जहाँ से होकर मध्यपूर्व और पूर्वी एशिया को जोड़ने वाले समुद्री यातायात मार्ग गुजरते हैं जिनका बहुत ज्यादा इस्तेमाल होता है, भारत को अमरीकी सेना के लिए खास तौर पर आकर्षक बना देता है।

अमरीका के लेफ्टीनेण्ट जनरलों ने मैकडोनाल्ड को बताया कि भारत स्थित सैनिक अड्डों तक अमरीकी पैठ अमरीकी सेना को ''क्षेत्रीय संकटों पर तीव्र प्रतिक्रिया करने'' और ''शेष विश्व पर हमला कर सकने में समर्थ बनायेगी।'' इसके अलावा, उस स्थिति से निपटने के लिए जब कभी अपने पुराने सहयोगियों (उदाहरण के लिए जापान, दक्षिण कोरिया और सउदीअरब) के साथ अमरीका के रिश्ते बहुत कटु हो जायें या समाप्त हो जायें या उस स्थिति में जब उनके सैनिक अड्डों तक अमरीकी पैठ के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें, ''अमरीका को एशिया में विकल्पों को विकसित करने की जरूरत पड़ेगी। इस लिहाज से भारत आदर्श विकल्प है...।''

एक अमरीकी कर्नल ने मैकडोनाल्ड को बताया कि– अमरीकी नौसेना दुनिया के दूसरे छोर पर एक अपेक्षाकृत तटस्थ क्षेत्र चाहती है जो मध्यपूर्व में अभियानों के लिए बन्दरगाह और समर्थन उपलब्ध करा सके। भारत के पास न सिर्फ एक अच्छा आधारभूत ढाँचा है बल्कि भारतीय नौसेना यह साबित कर चुकी है कि वह अमरीकी युद्धपोतों को तैनात करने और उनमें ईंधन भरने में भी पूरी तरह सक्षम है। समय बीतने के साथ भारतीय बन्दरगाहों पर उनका जाना एक आम बात हो जायेगी। भारत एक ऐसा सम्भावनाशील खिलाड़ी है जो सभी नौसैनिक अभियानों, जिनमें क्षेत्रीय संकट पर प्रतिक्रिया करना और सुरक्षा के लिए रास्ते में साथ जाना (एस्कोर्ट करना) शामिल हैं, समर्थन दे सकता है।

अफगानिस्तान और इराक में आक्रमण और कब्जा कर रही अमरीकी सेनाओं को अपने बन्दरगाहों पर सुविधाएँ तो भारत पहले ही उपलब्ध करवा चुका है। इसके अलावा, उसने अमरीका को श्रीलंका स्थित सैनिक अड्डों का इस्तेमाल करने के लिए भी हरी झण्डी दी है–

सालों तक किसी विदेशी ताकत को डियागो गर्सिया और पूर्वी श्रीलंका स्थित सैनिकअड्डों और त्रिंकोमाली बन्दरगाह के पास फटकने तक से रोकने की कोशिश करने के बावजूद भारत ने इन बन्दरगाहों तक अमरीकी नौसना की पैठ सुरक्षित करने के लिए उसकी ओर से कार्रवाई की तथा आतंकवाद के खिलाफ वैश्विक युद्ध में अपने बन्दरगाहों का इस्तेमाल करने के लिए भी अमरीका के सामने प्रस्ताव रखा। बदले में अमरीका ने श्रीलंका के तमिल टाइगर्स पर सफलता पूर्व दबाव डाला कि वह श्रीलंका सरकार के साथ शान्ति वार्ताएँ जारी रखे...। हिन्द महासागर में स्थित इन सैनिक अड्डों तक पैठ... मध्यपूर्व से दक्षिणपूर्व एशिया तक होने वाली सैनिक कार्रवाइयों ओर मिशनों को अंजाम देने के लिए बहुत ही महत्वपर्ण है और इसप्रकार हिन्द महासागर में चीनी नौसैनिक महत्वाकांक्षाओं पर रोक का भी काम करेगी...। यही नहीं, आज की तारीख में अमरीकी पोतों और वायुयानों में से प्रत्येक के मामले पर अलग-अलग विचार करके भारत उन्हें अपने सैनिक अड्डे उपलब्ध करवाता है।

अमरीका में हुए 11 सितम्बर के हमले और अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए अपने सैनिक अड्डों का इस्तेमाल करने का भारत द्वारा दिया गया व्यग्र प्रस्ताव, एक नये मोड़ का सूचक है। इससे पहले लगभग हर तीन साल में कोई एक अमरीकी नौसैनिक पोत भारत आता था। अब अमरीका की प्रशान्त क्षेत्र कमान के अधिकारियों के मुताबिक अमरीकी पोत नियमित रूप से आते

रहते हैं। भारत सरकार ने 11 सितम्बर के हमले के पहले गुजरात भूकम्प की सहायता के लिए आयी अमरीकी फौजों को भारत की जमीन पर हथियार के साथ उतरने की इजाजत नहीं दी थी। मैकडोनाल्ड के मुताबिक ''11 सितम्बर के बाद, अब अमरीकी सेना की पूरी तरह पैठ बना चुकी है।''

अमरीका भारत में प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी चाहता है। मैकडोनाल्ड के अनुसार, ''भारत के पास बर्फ से ढँके पहाड़ों से लेकर रेगिस्तानों तक एक विविधतापूर्ण भू-दृश्य है। यह अमरीकियों के लिए मददगार होगा क्योंकि अमरीका में सैनिक प्रशिक्षण के लिए उपलब्ध चाँदमारी की जगहें कम होती जा रही हैं और उनका प्रयोग भी ज्यादा विवादास्पद होता जा रहा है। साथ ही अमरीकी नौसेना के लिए ''हिन्द महासागर क्षेत्र में दक्षता'' हासिल करने का सबसे अच्छा तरीका है, भारतीय नौसेना के साथ प्रशिक्षण में भाग लेना।

भारत की हथियारबन्द सेनाएँ 'निचले दर्जे' के कार्य सम्पादित करेंगी

अमरीका को न सिर्फ भारतीय सुविधाओं के इस्तेमाल की जरूरत है बल्कि भारतीय सशस्त्र सेनाओं की सेवाओं की भी आवश्यकता है। एश्ले टेलीस के अनुसार उनकी भूमिका निचले दर्जे की होने के बाजजूद अमरीका के लिए लाभप्रद होगी–

> अत्यावश्यक अमरीकी हितों के लिए निर्णायक महत्व रखने वाले उन एशियाई इलाकों में जहाँ अमरीकी संसाधनों का इस्तेमासल उचित ठहराया जा सकेगा, जिसमें जरूतर पड़ने पर एकतरफा सैनिक कार्रवाई भी शामिल है, भारत पहले की तरह परिधि का खिलाड़ी ही बना रहेगा। लेकिन जैसे ही उसकी क्षमताएँ बढ़ेगी वैसे ही, सीमित ही सही उसका प्रभाव भी बढ़ेगा। यदि भारत के साथ रिश्ते दक्षतापूर्व चलाये जायें तो वह प्रभाव द्विपक्षयी साझा हितों को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

टेलीस आगे लिखता है कि इन निर्णायक महत्व के इलाकों में ''अमरीका और भारत के बीच सैन्य क्षमता और संसाधनों के मामले में भारी असमानता इतनी साफ होगी कि वह भारत की प्राथमिकताओं को पूरी तरह अप्रासंगिक बना देगी।'' तो भी, इस तरह के मामलों में भी ''भारतीय शक्ति में नाटकीय बढ़ोत्तरी दिखायी जा सकती है अगर उसे अमरीकी सैनिक ताकत के साथ सुर-ताल मिलाकर प्रयोग में लाया जाय। ऐसी परिस्थितियों में भारत के संसाधन अमरीका पर पड़ने वाले कार्रवाई के खर्च के बोझ को हल्का करने में मदद कर सकते हैं...।''

इसके अलावा वह इस बात परजोर देता है कि भारतीय सेनाओं को उन क्षेत्रों/मामलों से सम्बन्धित जिम्मेदारियाँ सौंपी जा सकती हैं, जिनके बारे में अमरीका यह सोचता है कि वे उसके सीधे हस्तक्षेप के लायक नहीं हैं–

> भारतीय शक्ति उन भौगोलिक क्षेत्रों और मामलों में सबसे ज्यादा प्रासंगिक होगी जो एशियाई भू-राजनीतिक 'दरारों' से सम्बन्धित हैं... उन इलाकों में जहाँ महाशक्ति हित न तो इतने प्रत्यक्ष हों और न ही अत्यावश्यक। इसके चलते कुछ सुनिश्चित नतीजों के लिए अकेले ही कार्रवाई करने में उनकी दिलचस्पी बहुत कम होगी। ऐसी परिस्थितियों में भारत जैसी उभरती हुई ताकतें कुछ फर्क डाल सकती हैं क्योंकि उनकी बहुत प्रभावी तो नहीं लेकिन फिर भी पर्याप्त क्षमताएँ शक्ति-सन्तुलन को इस या उस गँठजोड़ के पक्ष में झुका सकती हैं...।

मैकडोनाल्ड का सुझाव है कि भारतीयों को ''निचले दर्जे की कार्रवाइयाँ'' सौंपी जा सकती हैं:

> अमरीकी सेना को एक सक्षम सैनिक साझेदार की तलाश है जो एशिया में निचले दर्जे की कार्रवाइयों, जैसे शान्ति कायम करने की कार्रवाई, खोज और बचाव, मानवीय सहायता, आपदा राहत ओर महँगी कीमत के माल को सुरक्षित पहुँचाने (एस्कोर्ट करने) की अधिकतर जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सके। इससे अमरीकी सेना अपने संसाधनो को अव्वल दर्जे के युद्ध अभियानों पर केन्द्रित कर सकेगी।

इस तरह की ''साझेदारी'' के लिए सबसे निकटतम उम्मीदवार भारतीय नौसेना है। दोनों देशों की नौसेनाओं के बीच सहयोग की शुरुआत अमरीका में 11 सितम्बर 2001 की घटनाओं के बाद हुई। 6 महीने तक भारतीय नौसेना ने अमरीकी नौसेना के साथ मिलकर व्यापारिक जहाजों की सुरक्षा के लिए संयुक्त गश्त किये और उत्तरी अरबसागर से लेकर मलक्का जलडमरूमध्य के बीच स्थित व्यस्त समुद्री मार्ग पर गश्त लगाती रही।

इस घटना ने एक उपयोगी मिसाल कायम की। मैकडोनाल्ड कहता है, ''नौसैनिक सहयोग दो सेनाओं के बीच सहयोग के एक सबसे उदीयमान क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है।'' इसका एक कारण यह है कि ''भारत की नौसेना ही वह एकमात्र भारतीय सेना है जिसको भारतीय सीमा के बाहर कार्रवाई करने के हिसाब से संगठित किया गया है।'' भारत के भीतर इसका राजनीतिक विरोध भी कम होगा। एक अमरीकी एडमिरल के शब्दों में, ''सहयोगी

तरीके से आगे बढने के लिए नौसेना ही सबसे आसान सेना हो सकती है क्योंकि अमरीकी नौसेना भारत की जमीन पर कोई पदचिह्न नहीं छोड़ती। युद्ध अभ्यास लोगों की नजरों से दूर आयोजित किये जाते हैं और अमरीकी सेना भारत की जमीन पर नहीं उतरती।''

जून 2005 का ''अमरीका-भारत रक्षा सम्बन्धों की नयी रूपरेखा'' नामक समझौता अन्य बातों के साथ प्रमुखता से इसका जिक्र करता है कि भारतीय और अमरीकी सेनाएँ संयुक्त और सम्मिलित सैनिक अभ्यास और आदान-प्रदान करेंगी, संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिए संयुक्त रूप से काम करेंगी और बहुराष्ट्रीय कार्रवाइयों और ''शान्ति स्थापना'' की कार्रवाइयों में सहयोग करेंगी। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ का उल्लेख तक नहीं हैं। स्पष्ट तौर पर ये कार्रवाइयाँ नाम मात्र के लिए भी उसके बैनर तले आयोजित नहीं की जायेंगी। यह अमरीका की सुनियोजित कोशिशों का हिस्सा है जिनके तहत वह आपदा राहत और क्षेत्रीय टकरावों को अपनी और अपने संश्रयकारियों की सेनाएँ भेजने के बहाने के तौर पर इस्तेमाल करके उन परिस्थितियों तक भी अपनी पैठ बना लेना चाहता है जो पहले उसकी पहुँच में नहीं थी। 18 जुलाई 2005 का जार्ज बुश और मनमोहन सिंह का संयुक्त वक्तव्य एक नयी ''भारत-अमरीका आपदा राहत पहल जो सुनामी कोर ग्रुप के अनुभवों पर आधारित है'', के बारे में बताता है। यह समूह जिसमें भारत भी शामिल किया गया था, बाद में भंग कर दिया गया और उसके काम को संयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन कर दिया गया। लेकिन इसके बावजूद अमरीका किसी तरह आपदा रहात के बहाने अपनी सेनाओं और संयन्त्रों को इण्डोनेशिया के एक्ह प्रान्त और श्रीलंका भेजने में कामयाब रहा। (श्रीलंका के मामले में उसने ''मानवीय उद्देश्यों'' के लिए 1,500 नौसैनिक और जल व स्थल दोनों जगहों से मार करने वाला एक पोत भेजा।)

प्रसार सुरक्षा पहलः अन्तरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन

28 जून 2005 के ''नयी रूपरेखा'' नामक समझौते में यह भी उल्लेख किया गया है कि भारत और अमरीका ''जनसंहारक हथियारों के प्रसार का मुकाबला करने के लिए'' भी गँठजोड़ करेंगे। दरअसल, भारत अमरीका के नेतृत्व में प्रसार सुरक्षा पहल का अंग बनने के लिए तैयार है जो इस समझौते का एक खतरनाक और अवैध परिणाम है। प्रसार सुरक्षा पहल न तो कोई सन्धि है, न ही कोई संगठन, बल्कि सरकारों के एक समूह के बीच अनौपचारिक तालमेल है जिसमें कोई बाध्यकारी शर्त या अधिनियम नहीं है और जो जनसंहारक हथियारों का प्रसार रोकने के बैनर तले काम करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से कार्रवाई करने के तरीके को ठुकराकर प्रसार सुरक्षा पहल इसमें शामिल होने वाली सरकारों से माँग करती है कि वे जनसंहाकर हथियारों, उनको चलाने वाली प्रणाली और ''सम्बन्धित सामग्री'' का प्रसार करने वालों पर रोक लगायें, चाहे वह किसी देश की सरकार हो या कोई और। (यहाँ रोकने के लिए ''निषेध'' शब्द का प्रयोग किया गया है।)

जनसंहारक हथियार ''चलाने की प्रणाली'' का सम्भावित अर्थ है मिसाइल और ऐसे ही दूसरे प्रक्षेपक। ''सम्बन्धित सामग्री'' शब्द इतना भ्रामक है कि यहाँ तक कि खाद तैयार करने से सम्बन्धित सामग्री भी इस बिनाह पर जब्त की जा सकती है कि उसका इस्तेमाल जनसंहारक हथियार बनाने में किया जा सकता है। इराक के खिलाफ प्रतिबन्धों के काल (1991-2003) में एक समय उसे पेंसिल आयात करने से इस आधार पर रोक दिया गया था कि उसमें ग्रेफाइट है, जिसे हथियार बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के अनुमोदन के बिना ही अपनी खुद की पहल पर प्रसार सुरक्षा पहल के भगीदार देश अपने समुद्री इलाके में या गहरे समुद्रों मे भी (राज्य की अपनी जलसीमा से परे) गुजरने वाले किसी भी मालवाहक जहाज पर, जिसके बारे में ''पर्याप्त सन्देह हो कि वह ऐसा सन्दिग्ध माल ले जा रहा है'', चढ़ सकते हैं उसकी तलाशी ले सकते हैं तथा ऐसे माल को जब्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि प्रसारकों के यहाँ से आने या जाने वाले ऐसे वायुयान भी जिनके बारे में ''पर्याप्त सन्देह किया जा सके'' कि वे ''ऐसा सन्दिग्ध माल'' ले जा रहे हैं, उन्हें उतारने और उनका माल जब्त करने की जरूरत पड़ सकती है। (यदि ऐसा कोई वायुयान उतरने से इन्कार कर दे तो इसके क्या परिणाम हो सकते हैं? अनुमानतः उन पर लदे जनसंहारक हथियारों के तथाकथित माल सहित उन्हें मार गिराया जायेगा।)

इराक में जनसंहारक हथियार होने के हास्यास्पद अमरीकी दावे की तरह जो इराक पर अमरीकी आक्रमण को न्यायसंगत ठहराने का आधार बना, प्रसार सुरक्षा पहल के तहत किये गये दावे भी किसी अन्तरराष्ट्रीय संस्था की जाँच का विषय नहीं होंगे, बल्कि अमरीकी ''खुफियागिरी'' पर आधारित होंगे। (''युक्तिसंगत ढंग से सन्देह किया जा सके'' वाक्यांश पर ध्यान दें।) चूँकि अन्तरराष्ट्रीय कानून के तहत ऊपर वर्णित कार्रवाइयाँ युद्ध की कार्रवाइयाँ समझी जाती हैं, इसलिए

भारत के प्रसार सुरक्षा पहल में शामिल होने के गम्भीर दुष्परिणाम हो सकते हैं।

एक साल से कुछ और पहले जब अमरीकी राज्य सचिव कॉलिन पावेल प्रसार सुरक्षा पहल में शामिल होने के लिए भारत पर दबाव डाल रहे थे, भारत के वरिष्ठ अधिकारियों ने इसकी वैधता को लेकर गम्भीर सवाल उठाये थे। हालाँकि अब भारत प्रसार सुरक्षा पहल में एक भागीदार बनने के रास्ते पर बढ़ता प्रतीत हो रहा है। जनवरी 2005 में हुए सातवें एशियाई सुरक्षा सम्मेलन में रक्षामन्त्री प्रणव मुखर्जी ने यह दावा किया कि समुद्री मार्गों के रास्ते जनसंहारक हथियारों का प्रसार ''बड़ी समस्याओं में से एक'' है। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ''प्रसार सुरक्षा पहल जैसी नयी शुरुआत'' के बारे में ''और ज्यादा व्यापक छानबीन जरूरी'' है। उन्होंने कहा कि भारतीय नौसेना और तटरक्षक इस तरह के खतरों से निपटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। 21 मई 2005 को नौसैनिक स्टाफ प्रमुख एडमिरल अरुण प्रकाश ने कहा कि यदि भारत प्रसार सुरक्षा पहल में शामिल होगा तो ''दुनिया के मामलों में भारत की हैसियत को देखते हुए हमें कोर ग्रुप के देशों में से एक होना चाहिए।''

सितम्बर 2005 में भारत की नौसेना ने अमरीकी नौसेना के साथ अब तक का सबसे बड़ा संयुक्त युद्ध-अभ्यास किया। प्रमुख तौर पर विमानवाही पोतों और पूरक के तौर पर नियन्त्रित प्रक्षेपास्त्र विनाशक हथियार, सुरक्षा के लिए साथ-साथ जाने वाले एस्कॉर्ट पोत, हेलीकाप्टर, टोही विमान और लड़ाकू विमानों को शामिल करके नौसेनाओं ने गहरे समुद्रों में पोतों को रोकर उनका निरीक्षण करने, उन पर चढ़ जाने, उनकी तलाशी लेने और उन पर कब्जा करने का भी अभ्यास किया। वरिष्ठ भारतीय अधिकारियों ने इस बात से इन्कार किया कि इसका प्रसार सुरक्षा पहल से कोई वास्ता है।

मिसाइल ''सुरक्षा'': गम्भीर परिणामों वाला एक आक्रामक संश्रय

''नयी रूपरेखा'' नामक समझौते के मुताबिक दोनों देशों की सेनाएँ ''मिसाइल सुरक्षा सम्बन्धी गँठजोड़ का विस्तार'' करेंगी। यह भारतीय जनता के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न करने वाला है।

मई 2001 में जार्ज बुश ने अमरीका के लिए एक ''नयी रणनीतिक रूपरेखा'' की घोषणा की थी जिसमें यह बात भी शामिल थी कि अमरीका ''राष्ट्रीय मिसाइल सुरक्षा'' की अपनी योजनाओं को आगे बढ़ाता रहेगा, अर्थात एक ऐसा तन्त्र निकसित करेगा जिसका लक्ष्य अमरीकी ठिकानों की ओर लक्षित मिसाइलों को हवा में ही नष्ट करके अमरीका की सुरक्षा करना होगा। बुश ने तीस साल पुरानी प्रक्षेपास्त्र निरोधक सन्धि द्वारा लगायी गयी ''बाधाओं से परे हटने'' के अपने इरादे की भी घोषणा कर दी है। इस सन्धि के पीछे का तर्क यह था कि यदि किसी नाभिकीय हथियार सम्पन्न देश को दूसरे देशों के नाभिकीय हथियारों से प्रभावी तौर पर अपनी सुरक्षा करनी है तो बिना जवाबी हमले की परवाह किये वह अपने हथियारों का अन्य देशों पर इस्तेमाल कर सकता है। दूसरी शक्तियाँ, यह सुनिश्चित करने के लिए कि सिर्फ मिसाइलों की संख्या के आधार पर ही यह सुरक्षा भेदी जा सकती है, अपनी मिसाइलों की संख्या कई गुना बढ़ायेगी और इस तरह हथियारों की एक खतरनाक होड़ शुरू हो जायेगी।

बुश की घोषणा की व्यापक आलोचना हुई। 'चाइना डेली' नामक आधिकारिक अखबार ने कहा कि बुश की योजना दुनिया में ''पूर्ण सैनिक वर्चस्व'' कायम करने का निहित उद्देश्य लिये हुए प्रतीत होती है। इस लक्ष्य का अनुसरण ''मौजूदा कमजोर वैश्विक सुरक्षा-सन्तुलन को छिन्न-भिन्न कर देगा'', ''अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य में हथियारों की एक नयी होड़ को उकसायेगा और निरस्त्रीकरण के अन्तरराष्ट्रीय प्रयासों के जरिये अभी तक जो कुछ भी हासिल हुआ है, उसे नष्ट कर देगा''। रूस के विदेश मन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने कहा, ''अमरीका हमें इस बात का कायल बनाने में असमर्थ रहा है कि उसकी नजर में यह बिल्कुल साफ है कि पिछले 30 सालों तक चले निरस्त्रीकरण समझौतों को नुकसान पहुँचाये बिना अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या को कैसे हल किया जा सकता है''। जर्मनी भी असहमत रहा और उसने इस परियोजना पर ''बहुत गम्भीर सवाल'' उठाये। दुनिया-भर की जनता की राय और भी ज्यादा प्रतिकूल थी।

वाजपेयी की सरकार दुनिया की उन कुछ सरकारों में से एक थी जिन्होंने बुश की घोषणा का खुलेआम स्वागत किया और उसे न्यायसंगत ठहराने के लिए आश्चर्यजनक रूप से, इसे नाभिकीय निरस्त्रीकरण की ओर एक कदम बताया। अमरीका के साथ वार्ताओं की शुरुआत इस बात से हुई कि भारत इस व्यवस्था में कैसे शामिल हो सकता है। 1 जनवरी 2004 को बुश ने भारत के साथ ''रणनीतिक साझेदारी के अगले कदमों'' (NSSP) की घोषणा की जिसमें मिसाइल सुरक्षा के क्षेत्र में सहयोग भी शामिल था। भारत की आधिकारिक प्रतिक्रिया उल्लास से भरी थी–रणनीतिक साझेदारी के अगले कदम ''विलक्षण... और पूरी तरह से

असाधारण'' बात है।

हालाँकि पाँच महीने बाद वाजपेयी की सरकार गिर गयी। कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की नयी सरकार ने शुरुआत में मिसाइल सुरक्षा के मामले में अपने बयानों में काफी सतर्कता बरती। सबके बावजूद, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के ''न्यूनतम साझा कार्यक्रम'' में एक स्वतन्त्र विदेश-नीति पर चलने के बारे में कुछ सामान्य वक्तव्य तो शामिल थे ही। भारत-अमरीका रक्षा नीति समूह वह मंच है जिसके माध्यम से भारत-अमरीका रणनीतिक साझेदारी को अमल में लाया जा रहा है। नयी सरकार द्वारा कार्यभार ग्रहण करने के तत्काल बाद यह मंच मई के अन्त में अपनी बैठक किया। अमरीकी प्रतिनिधमण्डल ने मिसाइल सुरक्षा के बारे मे एक प्रस्तुति दी लेकिन भारतीय पक्ष की प्रतिक्रिया सार्वजनिक नहीं की गयी। अगले साल इसी मुद्दे पर कुछ और आदान-प्रदान हुए जिसमें अप्रैल 2005 में कैलीफोर्निया में आयोजित मिसाइल सुरक्षा अभ्यासों में भाग लेने के लिए एक भारतीय दल की यात्रा भी शामिल है।

अगस्त 2004 में दिल्ली नीति समूह की एक बैठक में अपने भाषण में भारत के उप-राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार सतीष चन्द्रा ने मिसाइल सुरक्षा के असली आशय को उद्घाटित किया। उन्होंने कहा कि मिसाइल सुरक्षा अमरीका की ''अवधारणा में बदलाव'' का हिस्सा है जिससे वह ''अपनी रक्षा के नाम पर नाभिकीय हथियारों के इस्तेमाल के लिए पहले से ही खुद को अधिकृत कर सकता है।'' अपने भाषण में चन्द्रा ने इस तथ्य पर दुख व्यक्त किया कि नाभिकीय हथियार मुक्त विश्व के बारे में अपने प्रयासो के बावजूद अमरीका ''नाभिकीय हथियारों को अपने पास बनाये रखने के लिए नये तर्क गढ़ रहा है और नये प्रकार के नाभिकीय हथियार विकसित कर रहा है।'' ''प्रक्षेपास्त्र निरोधक सन्धि को रद्द करने और प्रक्षेपास्त्र सुरक्षा विकसित करने के अमरीकी कदम इस बात के स्पष्ट संकेतक हैं कि अमरीका में रणनीतिक सोच में अवधारणागत बदलाव हो रहे हैं ताकि **वह आत्मरक्षा के नाम पर नाभिकीय हथियारों के इस्तेमाल के विकलप के लिए खुद को पहले से ही अधि कृत कर सके।** इस प्रकार, जबकि 1970 ओर 1980 के दशक में नाभिकीय हथियारों के निर्माण को मुख्यत: निरोध क के तौर पर न्यायसंगत ठहराया गया था, **नाभिकीय हथियारों के इस्तेमाल के सिद्धान्तकारों का विचार है कि उनका वास्तविक इस्तेमाल नाभिकीय युद्ध जैसी परिस्थितियों में ही सम्भव है...।**'' (जोर मूल भाषण में है।)

चन्द्रा ने अपने भाषण में जो असहमति व्यक्त की थी, वह अब प्रासंगिक नहीं थी क्योंकि **निर्णय पहले ही लिया जा चुका था।** अक्टूबर 2004 में अमरीकी राजदूत मलफोर्ड ने 'फोर्स' नामक पत्रिका को बताया कि अमरीका और भारत पहले ही मिसाइल सुरक्षा के बारे में सिर्फ बातें बनाते रहने से आगे बढ़ चुके हैं: ''तकनीक और प्रणाली के बारे में एक विचार-विमर्श पहले ही हो चुका है... मेरी समझ से एकमात्र समस्या यह है कि तकनीकी तौर पर यह एक जटिल विषय है और विभिन्न पीढ़ियों की प्रणालियाँ मौजूद हैं। इसलिए **मुद्दा यह पहचानने का है कि कहाँ किस किस्म की प्रणाली की जरूरत है।** यह एक जटिल प्रक्रिया है।''

जापान की मिसाइल सुरक्षा के लिए जो प्रणाली बनायी जा रही है उससे हमें इसका अन्दाजा मिलता है कि भारत के लिए क्या योजना बनायी जा सकती है। खुद जापान में भू-आधारित अन्त:सम्वेदी मिसाइल नैनात किये गये और जापान के आस-पास अमरीकी तत्वावधान में तैनात विध्वंसकों पर समुद्र-आधारित अन्त:सम्वेदी मिसाइल लगाये गये। इसके तीसरे घटक के तौर पर रूपान्तरित बोइंग 747 जेट विमानों की नोक पर लेजर बीम लगाने की कोशिशें की जा रही हैं। ये 24 घण्टे चीन के तटवर्ती इलाकों में उड़ान भरते रहेंगे और चीन या उत्तर कोरिया द्वारा दागी गयी किसी भी मिसाइल को मार गिरायेंगे। (हालाँकि हवा से हवा में मार करने वाले इस लेजर कार्यक्रम की तकनीक के विकास में भारी समस्याएँ हैं।)

अगर यह मान भी लें कि यह मिसाइल सुरक्षा प्रणाली कारगर है तो भी इसमें कोई शक नहीं कि जापान भारत से बहुत छोटा है। इसलिए भारत की सुरक्षा करना ज्यादा कठिन और खर्चीला होगा। भारत के मामले में यह सम्भव है कि सुरक्षा प्रणाली पूरे भारत को नहीं बल्कि कुछ चुनिन्दा स्थानों–सैनिक ठिकानों ओर महानगरों–को ध्यान में रखकर बनायी जाय। किसी भी कीमत पर इस प्रणाली को छिन्न-भिन्न करने के लिए चीन की सबसे सम्भव प्रतिक्रिया होगी–और बड़ी संख्या में मिसाइलों का निर्माण, जैसा कि वह ताइवान के मामले में पहले से कर रहा है। चीन का मुकाबला करने की क्षमता को बनाये रखने के लिए जवाब में भारत सम्भवत: और ज्यादा अग्नि-3 मिसाइलें बनायेगा और उन्हें नाभिकीय हथियारों से लैस करेगा।

भारत की जनता को इस रास्ते पर चलने के पीछे की सनक, उसकी भारी कीमत और उस पर चलने के गम्भीर खतरों के बारे में सावधान किया जाना जरूरी है और उन्हें यह

भी बताया जाना चाहिए कि यह किसके स्वार्थों की पूर्ति करता है।

प्रस्तावित 'एशियाई नाटो' की धुरी की कीली के रूप में भारत

भारत की जनता अब तक इस बात से अनभिज्ञ है कि उनका देश एशिया के लिए अमरीका द्वारा प्रायोजित एक व्यापक सैनिक गठजोड़ की धुरी की कीली बनाया जा सकता है:

> 2003 के दौरान, यदि ठीक तब से न माना जाये तो भी, अमरीकी और भारतीय अधिकारियों ने एक 'एशियाई नाटो' की सम्भावना पर बातचीत की है **हालाँकि इन बातचीतों के ब्योरे और भारत के लिए उनके महत्व को सार्वजनिक नहीं किया गया है।**

कोई भी गँठजोड़ तब तक कोई अर्थ नहीं रखता जब तक वह किसी के खिलाफ न हो। नाटो को मूलत: सोवियत संघ के खिलाफ एक गँठजोड़ के रूप मे गढ़ा गया था, उसके एशियाई संस्करण का मुख्य निशाना चीन होगा। इस उद्देश्य को हासिल करने की दिशा में भारतीय सशस्त्र सेनाएँ, खासकर भारतीय नौसेना, सक्रिय रही है। नये नौसैनिक सिद्धान्तों के मुताबिक भारतीय नौसेना को हिन्द महासागर के इलाके में स्थित ''नाकेबन्दियों, महत्वपूर्ण द्वीपों और अतिमहत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों'' पर प्रभुत्व जमाना है। 2004 के अन्त तक इसे सिंगापुर, थाईलैण्ड और फिलीपींस की नौसेनओं की साथ मिलकर हिन्द महासागर क्षेत्र की चौकसी शुरू करनी थी।

इसी हिसाब से भारतीय नौसेना ने एक ''पूर्व की ओर देखो'' कार्यक्रम की शुरुआत की है जिसके तहत दक्षिणपूर्व एशिया में सद्भावना मिशन भेजे गये (जिनके दौरान भारतीय युद्धपोतों ने जापान और वियतनाम के साथ नौसैनिक युद्धाभ्यास में हिस्सा लिया) जो वियतनाम, फिलीपींस, दक्षिण कोरिया और जापान के बन्दरगाहों पर रुकते हुए गये और सिंगापुर, मलेशिया और इण्डोनेशिया के साथ संयुक्त चौकसी गश्त मे शामिल हुए। इनका उद्देश्य है, चीन के आस-पास स्थित देशों से सम्बन्ध बनाना, **नौसेना को कार्रवाइयों के सम्भावित रंगमंच दक्षिणी चीन सागर से परिचित करवाना** और घर से बहुत दूर के इलाकों में कार्रवाई करने की नौसेना की क्षमता को विकसित करना।

नौसेना को बढ़ाने तथा अण्दमान और निकोबार स्थित अड्डों का भारी विस्तार करने के बारे में भारत सरकार की योजनाओं को इसी रोशनी में देखा जाना चाहिए। एक रिपोर्ट के मुताबिक,

> सुदूर पूर्व में नौसैनिक कमान कायम करने की योजना ठोस रूप में 1995 में वाशिंगटन में भारतीय प्रधानमन्त्री नरसिम्हाराव और अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिण्टन के बीच बन्द दरवाजे के पीछे हुई एक बैठक के बाद बनी...। **अमरीका से आशा की जाती है कि वह सुदूर पूर्व में नौसैनिक कमान कायम करने के लिए आंशिक तौर पर धन मुहैया करवायेगा क्योंकि यह एशिया के लिए अमरीकी नेतृत्व में हो रहे सुरक्षा इन्तजाम का हिस्सा है, जिसमें भारत की प्रमुख भूमिका है। अमरीका से यह पैसा** 2000 **में बिल क्लिण्टन की भारत-यात्रा के समय मिला।**

भारत ने वियतनाम के साथ विशेष नजदीकी रिश्ते बनाये हैं। यह दुखद है कि अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ने वाला एक समय का बहादुर योद्धा वियतनाम अब अमरीका का अप्रत्यक्ष संश्रयकारी बनाया जा चुका है:

> भारत वियतनाम को सैनिक साजो-सामान की बिक्री बढ़ा रहा है, वायुयानों की पूरी तरह से मरम्मत के लिए उसे कल-पुर्जे मुहैया करवा रहा है और **बगावत कुचलने और जंगलों में युद्ध की स्थिति से निपटने** के लिए प्रशिक्षण देने हेतु अपने सैनिक अधिकारी वियतनाम में भेज रहा है। भारतीय तटरक्षक और वियतनाम की समुद्री पुलिस समुद्री डकैती को रोकने के लिए सहयोग करेंगे। भारत वियतनामी नौसेना के निर्माण में मदद दे रहा है... वियतनाम को पृथ्वी मिसाइल बेचने, भारतीय नाभिकीय प्रतिष्ठानों में वियतनामी वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित करने और छोटे हथियारों के उत्पादन के लिए अपने खुद के हथियार-उद्योग की स्थापना में भारत वियतनाम की मदद करने के लिए ''सिद्धान्त में'' सहमत हो गया है।...भारतीय नौसेना ने वियतनामी नौसेना के साथ संयुक्त नौसैनिक अभ्यास भी किये हैं।

यह भी रिपोर्ट किया गया है कि मिसाइल तकनीक के हस्तान्तरण के बदले में भारत वियतनाम की कामरान खाड़ी के इस्तेमाल की माँग कर सकता है जो एशिया का बहुत अच्छा गहरे पानी वाला प्रकृतिक बन्दरगाह है। अमरीका के निकट-सहयोगी जापान के साथ भारत के रिश्ते बढ़ रहे हैं। जापान की नौसेना, जिसे समुद्री आत्मरक्षा बल (मेरीटाइम सेल्फ डिफेंस फोर्स) के नाम से जाना जाता है, अब अफगानिस्तान में अमरीकी कब्जे के समर्थन में हिन्द महासागर क्षेत्र में कार्यरत है। इसकी कार्रवाई का, (जिसकी अवधि अप्रैल 2005 में एक विशेष कानून पारित करके बढ़ा दी गयी), विशेष महत्व यह है कि इसने एक महत्वपूर्ण मिसाल कायम की है। 1945 के बाद जापान ने

पहली बार समुद्रपार की किसी सैनिक कार्रवाई में हिस्सा लिया है। साफ है कि जापान की सेना के लिए 'आत्मरक्षा बल' नाम अब पुराना पड़ गया है। इस कार्रवाई के दौरान जापानी नौसैनिक पोतों ने भारतीय बन्दरगाहों की सुविधा का लाभ उठाया। मई 2004 में चीन की उभरती हुई ताकत को प्रतिसन्तुलित करने के लिए भारत के साथ ''वैश्विक साझेदारी'' कायम करने के लिए सार्वजनिक तौर पर प्रस्ताव किया।'' अप्रैल 2005 में भारत और जापान के प्रधानमन्त्री मिले और दोनों देशों के बीच ''वैश्विक साझेदारी'' की बात को दृढ़तापूर्वक दोहराया तथा जनसंहारक हथियारों के ''प्रसार के खिलाफ'' साझेदारों की तरह काम करने का वचन दिया। उन्होंने घोषणा की कि दोनों देशों की नौसेना की तरह ही भारतीय ओर जापानी तटरक्ष भी प्रभावी सहयोग के लिए एक रूपरेखा तैयार करेंगे।

2000 में, तत्कालीन रक्षामन्त्री जार्ज फर्नाण्डीस ने घोषणा की कि वियतनाम और जापान हिन्द महासागर से लेकर दक्षिणी चीन सागर तक समुद्री डकैती रोकने के लिए भारत के रणनीतिक साझेदार के रूप में उभर रहे हैं। अमरीकी युद्ध कालेज द्वारा करवाये गये अध्ययन के मुताबिक ''ऐसा करके वे चीन को यह नोटिस भी दे रहे हैं कि वे उस समुद्र में अपना दबदबा कायम रखने की चीन की कोशिशों का मुकाबला करेंगे।'' इसके आगे ''भारत के थाईलैण्ड, अस्ट्रेलिया, सिगांपुर और अमरीका के साथ बेहतर रक्षा सहयोग की सम्भावना बन सकती है...।'' इण्डोनेशिया भी इस सूची में शामिल हो सकता है।

सी.आई.आई. (कॉन्फेडरेशन ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज) और विश्व आर्थिक मंच के संयुक्त तत्वावधान में नयी दिल्ली में हुए सम्मलेन में अपने भाषण में भारत के विदेश-सचिव श्याम सरन ने एक ''एशियाई नाटो'' कायम करने की योजनाओं को लेकर एक बहुत ही स्पष्ट वक्त्वय रखा। उन्होंने कहा, ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि एशिया के सन्दर्भ में सेनाओं की दलबन्दी में बड़े पैमाने पर फेरबदल हो रहे हैं।'' चीन एक ''वैश्विक आर्थिक ताकत'' के रूप में उभर रहा है जिसके पास अच्छी खासी सैनिक क्षमताएँ भी हैं। अमरीका और भारत ''एशिया में और बेहतर सन्तुलन कायम करने के लिए योगदान'' कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि इस क्षेत्र की सुरक्षा की स्थिति का प्रबन्ध करने के लिए ''ज्यादा-से-ज्यादा देशों को इस क्षेत्र के लिए एक सुरक्षा अवधारणा के अनुशासन में लाने की जरूरत है।''

अमरीकी युद्ध कालेज का अध्ययन एक ''एशियाई नाटो'' के फायदे बताते हुए कहता है–

> अमरीका के लिए इसका क्या मतलब? पहला यह कि प्रस्तावित सुरक्षा प्रणाली अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा के लिए मौजूद सबसे बड़े खतरों में से दो–अतिमहात्वाकांक्षी चीन और तालिबानीकृत इस्लाम का फैलाव–से निपटने के लिए मुख्यत: एक अन्त:क्षेत्रीय समाधान है। दूसरे, यह परियोजना पूरी तरह देशी होने के कारण इस क्षेत्र में, दक्षिण कोरिया और जापान जैसे देशों में, तैनात अमरीकी फौजों पर कोई कलंक नहीं लगेगा... और अन्तत: यह किसी भी तरह से विस्तारित इलाके में अमरीकी सशस्त्र सेनाओं की उपस्थिति में बाधक नहीं है या अमरीकी सैनिक पहलकदमी को सीमित नहीं करती है।

फिर भी, और यह सबसे महत्वपूर्ण है, **यह पूरा मन्सूबा ही ध्वस्त हो जायेगा अगर भारत अपनी महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा छोड़ दे।** जब भारत खुद को एक महाशक्ति माने और ''क्षेत्र में अपने को चीन को सन्तुलत करने वाली ताकत'' समझे केवल तभी वह एक व्यापक चीन-विरोधी गँठजोड़ को बढ़ावा देना चाहेगा। इसलिए भारत अपने ''निर्दिष्ट भाग्य'' के अनुसार काम करे इसके लिए अमरीका को उस पर **दबाव देना चाहिए:**

> लेकिन यह प्रणाली काम कर सके इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है कि भारत को अपने ''निर्दिष्ट भाग्य'' के बारे में कायल बनाया जाय और वह उसके लिए कार्रवाई करने के लिए तैयार हो। इसके लिए, मुख्य रूप से, जरूरी है कि भारत भू-रणनीतिक नजरिये से सोचे और जब **देश के अत्यावश्यक राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने की जरूरत आन पड़ी हो तब आत्मसंशय को छोड़ दे और दोस्त-दुश्मन सभी को समान रूप से तुष्ट करने की अपनी आदत से बाज आये।** इसको ठीक करने के लिए भारत सरकार अपने रणनीतिक हितों और मुख्य जोर को जल्दी से जल्दी पारिभाषित करे और न्यूनतम शर्त के तौर पर एक नाभिकीय शक्ति हासिल करने की दिशा में तेजी से आगे बढ़े ताकि उसके पास एक परीक्षिति और प्रमाणित ताप नाभिकीय और अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र प्रक्षेपण क्षमता हो। सम्भव एशियाई संश्रयकारियों को गँठजोड़ के लिए तैयार करने या अमरीका को भारत का सम्मान करने के लिए बाध्य करने के लिए इससे कम कुछ भी शर्त नहीं हो सकती कि इस क्षेत्र में भारत चीन को प्रभावी तौर पर प्रतिसन्तुलित करे।

एशिया में अमरीकी मन्सूबे की सफलता के लिए भारत की महाशक्ति बनने की महवाकांक्षाएँ निर्णायक महत्व रखती हैं। दरअसल, आगे चलकर भारतीय विदेश-नीति जितना अमरीकी रणनीतिक ढाँचे के अधीन होती जायेगी, भारत की संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता

हासिल करने की एकनिष्ठ मुहिम के अन्ततः अमरीकी समर्थन हासिल कर लेने की सम्भावना भी उतनी बढ़ जायेगी। यह स्वीकार करते समय कि अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता के भारत के दावे को समर्थन नहीं दिया है, मनमोहन सिंह ने संसद को बताया, ''मेरे पास यह मान लेने के पर्याप्त कारण हैं कि समय आने पर हमें नजरअन्दाज नहीं किया जायेगा।''

निष्कर्ष

अमरीका-भारत संश्रय के आसार भारतीय शासकों को आकर्षक प्रतीत हो रहे हैं। पहला, क्योंकि अमरीका की सैनिक श्रेष्ठता की इतिहास में कोई मिसाल नहीं है, इसलिए वह भारत को एक नयी वैश्विक हैसियत की गारण्टी करने की अच्छी स्थिति में प्रतीत होता है। दूसरे, शायद पहले कभी से ज्यादा अब भारत का उच्चवर्ग और यहाँ तक कि शहरी मध्यवर्ग का भी अच्छा-खासा हिस्सा पूरी दुनिया पर अमरीकी वर्चस्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर चुका है। बहुत से लोगों के रिश्तेदार अमरीका में रहते हैं, उनकी दिनो-दिन बढ़ती संख्या अमरीकी कम्पनियों या अमरीका की सेवा करने वाली कम्पनियों (उदाहरण के लिए सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में) के लिए काम करती है और पिछले 15 सालों में विदेशी और घरेलू समाचार माध्यमों के विस्फोट ने भी इस तादात्म्य को गहरा किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत के ''महाशक्ति'' बनने के मन्सूबे को अमरीका का आधिकारिक समर्थन इन तबकों के बीच भारत-अमरीका रणनीतिक गँठजोड़ के लिए समर्थन को और बढ़ायेगा। हालाँकि ये तबके बहुत थोड़ी संख्या में हैं फिर भी आम राय गढ़ने, यानी व्यापक जनता को प्रभावित करने में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

फिर भी, कुछ ऐसे कारण हैं जिनके चलते भारत और अमरीका के बीच उभर रहे इस राजनीतिक गँठजोड़ की राहें बहुत आसान नहीं होंगी।

पहला, अमरीका की सैनिक श्रेष्ठता को अनावश्यक महत्व दिया जा रहा है। यह किसी भी तरह से निर्विवाद नहीं रह गयी है। सिर्फ एक देश इराक में प्रतिरोध-युद्ध कर रही ताकतों को दबाने में भी यह असमर्थ रही है। अमरीकी सेना पूरे विश्व में बहुत जयादा खिंच गयी है और उसमें थकान के संकेत दीख रहे हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि दुनिया-भर में अमरीकी वर्चस्व का आर्थिक आधार कमजोर है। इन दी हुई परिस्थितियों में ''भारत को वैश्विक शक्ति बनाने'' की गारण्टी और भी कमजोर हो जाती है।

दूसरे, भारत को ''वैश्विक शक्ति'' मान लिये जाने मात्र से ही भारतीय शासक वर्गों की आन्तरिक राजनीतिक कठिनाइयों के हल होने की सम्भावना नहीं है। इसका सीधा-सा कारण यह है कि ऊपरी वर्गों के लोग पिछले दो दशकों में हुए परिवर्तनों से भले ही लाभान्वित हुए हैं, जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी दशा बिगड़ते देख रहा है। घरेलू राजनीतिक परिदृश्य पर जारी उथल-पुथल के पीछे सबसे निचले पायदान पर खड़े ये निचले वर्गों के लोग ही हैं। इन वर्गों का जीवन इतने दुखों और कष्टों में पिसते हुए बीतता है कि भारत की ''वैश्विक हैसियत'' के प्रचार से वे अमूमन प्रभावित नहीं होते।

भारत की अर्थव्यवस्था की वर्तमान दशा और दिशा इस तथ्य को बदलने वाली नहीं है। तथाकथित ''राष्ट्रीय आय'' की बढ़ोत्तरी के साथ-साथ उससे भी तेज गति से बढ़ती गैर-बराबरी को देखते हुए, मेहनतकश वर्गों को इससे रत्ती भर भी फायदा होगा, इसमें सन्देह है। अगर रोजगार वास्तव में बढ़े होते तो मजदूर तबकों को भी फायदा हुआ होता लेकिन रोजगार की बढ़ोत्तरी नगण्य रही है और इसप्रकार (रोजगार तलाशने वालों की पिछले दिनों बढ़ती संख्या को देखते हुए) बेरोजगारी में तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है। देशी और विदेशी निगम क्षेत्र के लिए निवेश के अवसर पैदा करने की प्रक्रिया में ऐसे और भी बड़े परिवर्तन किये जाने वाले हैं जो देश के छोटी जोत वाले कृषि क्षेत्र को तबाह कर देंगे। इन परिवर्तनों के चलते देश में बेरोजगारी और भी गम्भीर रूप धारण कर लेगी एवं राजनीतिक परिदृश्य और ज्यादा उथल-पुथल भरा होगा।

तीसरे, अपनी पतनशील साम्राज्यवादी ताकत को बचाने के लिए आज अमरीका एक असामान्य सैनिक दुस्साहसवाद के रास्ते पर बढ़ता जा रहा है। यहाँ हमारे पास इस विषय के अपेक्षित विस्तार में जाने की जगह नहीं है। कुछ उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। अब यह सर्वविदित है कि इराक पर आक्रमण और कब्जा अमरीका के दुनिया-भर के ज्यादा से जयादा तेल पर कब्जा करने के बड़े मन्सूबे का अंग है। अमरीका के विख्यात खोजी पत्रकार सेमूर हर्ष लिखते हैं कि अमरीकी सरकार 2004 की गर्मी के दिनों से ही ईरान में गुप्त सूचनाएँ एकत्र करने के लिए मिशन चला रही है ताकि ''ईरान के सैनिक आधारभूत ढाँचे को यथासम्भव तहस-नहस करने'' के लिए बम-हमलों और कमाण्डो छापों की तैयारी की जा सके (''द कमिंग वार्स,'' न्यूयार्कर, 24 जनवरी 2005)। शायद इस मन्सूबे को लागू करने में सबसे बड़ी बाधा इराक में जारी प्रतिरोध युद्ध रहा है जिसने अमरीकी सेना को उलझाया हुआ है।

चीन को काबू में करने की सैनिक योजनाएँ अपेक्षाकृत दीर्घकालिक हैं लेकिन वे भी कम दुस्साहिक नहीं हैं। अपने एक लेख 'हाऊ वी वुड फाइट चाइना' (अटलांटिक, जून 2005) में रॉबर्ट केपलॉन अनुमोदन करते हुए लिखते हैं कि पेण्टागन के चिन्तक एक नये शीतयुद्ध की भविष्यवाणी कर रहे हैं। रूस की भी रोकथाम होनी चाहिए। अमरीका ने (यूरोप की सहायता से) हाल ही में जार्जिया और यूक्रेन में ''क्रान्तियों'' को प्रायोजित किया ताकि रूस के लिए खतरे की घण्टी के तौर पर अमरीकी संश्रयकारियों का एक नेटवर्क बनाया जा सके। दरअसल, तेल के धनी कैस्पियन सागर के इलाके में अमरीका एक ''सुरक्षा संगठन'' बनाने के विशिष्ट प्रस्ताव पर जोर दे रहा है, जिसमें रूस ओर चीन शामिल नहीं होंगे। 'अमरीका की राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति' (सितम्बर 2002) के तहत यह घोषणा की गयी है कि अमरीका न सिर्फ

वैश्विक वर्चस्व के मामले में बल्कि दुनिया के किसी भी हिस्से में क्षेत्रीय वर्चस्व के मामले में भी यह बर्दाश्त नहीं करेगा कि उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो।

इस कार्यभार को अंजाम देने के लिए अमरीका को अन्य देशों के समर्थन की जरूरत है इसलिए अमरीका को अपने संश्रयकारियों में से उन तत्वों को प्रोत्साहित करना चाहिए जो अमरीका के तत्वावधान में अपने महाशक्ति बनने के सपने को पूरा करना चाहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है जापान, जिसके साथ अक्तूबर 2005 में अमरीका ने एक व्यापक रणनीतिक समझौता सम्पन्न किया था। हाल के वर्षों में अमरीका सुनियोजित तरीके से जापान को अपनी सशस्त्र सेनाओं पर लगे संवैधानिक प्रतिबन्धों को हटाने और उन्हें विदेशों में भेजने के लिए प्रोत्साहित करता रहा है। उसने जापानी प्रधानमन्त्री कोईजुमी का समर्थन किया है जो यासुकुनी समाधि पर जाकर जापानी युद्धअपराधियों को बार-बार श्रद्धांजलि देते रहे हैं। यह जापान की प्रतिक्रियावादी भावनाओं को भड़काने की खुली अपील और चीन को उकसाने की सचेत कार्रवाई थी। उसने अन्तरिक्ष के सैन्यीकरण के अपने कार्यक्रम में जापान को महत्वपूर्ण साझेदार बना लिया है।

मार्च 2002 में अमरीका ने एक ''नाभिकीय तेवर समीक्षा'' (न्यूक्लियर पोस्चर रिव्यू) पारित की जिसके तहत सेना को कम से कम 7 देशों (चीन, रूस, अमरीकी कब्जे से पहले का इराक, उत्तर कोरिया, ईरान, लीबिया और सीरिया) के खिलाफ नाभिकीय हथियारों का प्रयोग करने के लिए तैयार रहने के निर्देश दिये गये थे। इसके अलावा यह भी निर्देश था कि युद्ध की कुछ खास स्थितियों में प्रयोग करने के लिए सेना को छोटे नाभिकीय हथियार बनाने चाहिए, मसलन उन निशानों के खिलाफ जो गैर-नाभिकीय हथियारों के हमले को झेलने में सक्षम है: नाभिकीय, रासायनिक या जैविक हथियारों से हमले का जवाब देने के लिए या ''किसी औचक सैनिक घटनाक्रम की स्थिति में''। दस्तावेज कहता है कि अमरीका को अरब इजरायल युद्ध, चीन-ताइवान युद्ध या उत्तर कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर हमले की स्थिति में नाभिकीय हथियारों का प्रयोग करने के लिए तैयार रहना होगा। संक्षपे में, नाभिकीय हथियारों को अब महज निरोधक ही नहीं माना जा रहा है बल्कि विविध प्रकार के देशों के खिलाफ खतरे की आशंका के आधार पर **पहले हमला करने के लिए** उनका इस्तेमाल किया जा सकता है, यहाँ तक कि उन देशों के खिलाफ भी जिनके पास नाभिकीय हथियार नहीं है। इस नीति की घोषणा का एकमात्र मकसद अपने सम्भावित विरोधियों को चेतावनी देना है।

इसतरह यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अमरीका पूरी दुनिया की जनता के खिलाफ युद्ध की स्थिति में है और आतंकवाद का रास्ता अपना रहा है। विविध किस्म के चरित्र वाली बहुत सी ताकतें इस बात को समझ चुकी हैं और संघर्ष की तैयारी कर रही हैं।

महत्वपूर्ण सैनिक ताकत ही हैसियत से रूस और चीन करीब आ रहे हैं। उन्होंने एक संयुक्त ''विश्वव्यवस्था पर घोषणापत्र'' जारी किया है जिसमें एकतरफापन और बलप्रयोग का विरोध किया गया है तथा बहुपक्षीयवाद और संयुक्त राष्ट्र संघ पर भरोसा करने की माँग की गयी है। बाह्य अन्तरक्षि के शान्तिपूर्ण इस्तेमाल और एक ऐसी विश्वव्यवस्था की बात की गयी है जो ''आन्तरकि मामलों में वर्चस्व या एकाधिकार के किसी भी प्रकार के दावे से मुक्त'' हो। केन्द्रीय एशिया के चार देशों से मिलकर उन्होंने एक सैनिक संश्रय (शंघाई सहकार संगठन) कायम किया है। सबसे प्रमुख बात यह है कि उन्होंने हाल ही में कुल दस हजार सेना के साथ पहला संयुक्त सैनिक अभ्यास किया है।

फिर भी, अमरीकी मन्सूबों के खिलाफ रूस और चीन का विरोध उनके सीधे रणनीतिक हितों वाले क्षेत्रों तक ही सीमित है। **दुनिया-भर की जनता** ही अमरीकी मन्सूबों का तीखा और व्यापक विरोध कर रही है–यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी न सिर्फ कई जनमतसंग्रहों के दौरन पुष्टि हुई है बल्कि उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि दुनिया-भर में जनसंघर्षो ने इसे पुष्ट किया है। लातिन अमरीका में, जिसे अमरीका अपना पिछवाड़ा समझता है, अमरीका अभूतपूर्व अलगाव झेल रहा है जिसका सामना अपनी हाल की वहाँ की यात्रा के दौरान खुद बुश को भी करना पड़ा। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, यूरोप, पूर्वी एशिया और दक्षिणपूर्व एशिया की **जनता** भी (अपने देश के शासक वर्गों से अलग) ऐसा ही व्यवहार कर रही है।

इसलिए, भारत के शासक वर्ग अमरीका के साथ सैन्य संश्रय करके वे दुनिया के सबसे प्रतिक्रियावादी शक्ति के साथ भारत को बाँध दिये हैं और इसे दुनिया-भर की विभिन्न प्रकार की अमरीका-विरोधी शक्तियों का कोपभाजक बना दिये हैं। इस बन्ध न का नकारात्मक परिणाम भारत की जनता को एक या दूसरे रूप में भुगतना पड़ेगा, उदाहरण के लिए, विशाल सैन्य खर्च और युद्ध तथा इसके प्रतिकार सम्बन्धी अन्य कार्रवाइयों के रूप में। अत: अमरीकी चालों की मातहती और ''महाशक्ति'' के इस नकली दर्जे, जो जनता को न तो भोजन उपलब्ध करा सकता है, न तो कपड़ा और न ही अवास, के खिलाफ भारत की जनता को आगे आना चाहिए। □

अनुवाद: ज्ञानेन्द्र

[यह लेख सबसे पहले 'एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डिया'ज् इकोनॉमी', अंक 41 (दिसम्बर 2005) में छपा था, जिसे कुछ सम्पादकीय परिवर्तनों के साथ 'मन्थली रिव्यू' ने भी अपने मार्च 2006 के अंक में प्रकाशित किया। इस लेख को हम 'मन्थली रिव्यू' से साभार अनूदित कर रहे हैं।

मुम्बई स्थित 'राजनितिक अर्थशास्त्र के लिए शोध इकाई' 'एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डिया'ज् इकोनॉमी' नामक जर्नल व हिन्दी-अंग्रेजी में अन्य शोधों का प्रकाशन करती है।]

कचोटती स्वतन्त्रता

तुम बेचते हो अपनी आँखों का शऊर, अपने हाथों की दृष्टि
तुम बनाते हो लोइयाँ दुनिया भर की चीजों की
बिना एक कौर चखे
अपनी महान आजादी के साथ तुम खटते हो गैरों के लिए
जो तुम्हारी अम्मा को कलपाते रुलाते हैं, उन्हें
धन्नासेठ बनाने की आजादी के साथ
तुम स्वतन्त्र हो।
धरती पर गिरने के छिन ही वे सवार हो जाते हैं तुम्हारे सरपर
उनकी झूठ चक्कियाँ पीसती है लगातार तुम्हारी जिन्दगी
हथेलियों से कनपटियाँ दाबे, महान आजादी से बिसूरते हो तुम
अन्त:करण की स्वतन्त्रता के साथ
तुम स्वतन्त्र हो।
तुम्हारा झूलता सर अलग हुआ जान पड़ता है गर्दन से
लटकतीं हैं बाहें आजू-बाजू
मटरगश्ती करते हो तुम अपनी महान आजादी में
बेरोजगारों की स्वतन्त्रता के साथ
तुम स्वतन्त्र हो।

तुम प्यार करते हो देश को जिगरी दोस्त के समान
किसी रोज, वे, उसे बेच देते हैं, शायद अमेरिका को
साथ में तुम्हें भी, तुम्हारी महान आजादी समेत
हवाईअड्डा बनने की स्वतन्त्रता के साथ
तुम स्वतन्त्र हो।
वाल स्ट्रीट तुम्हारी गर्दन जकड़ती है, सत्यानाश हो उसके
हाथों का
किसी दिन, वे तुम्हें भेज देते हैं कोरिया
अपनी महान आजादी से तुम भरते हो एक कब्र...
गुमनाम सैनिक हो जाने की स्वतन्त्रता के साथ
तुम स्वतन्त्र हो।
लोहे का फाटक नहीं, परदा नहीं फरदे का, टाट तक की
ओट नहीं
जरूरत ही क्या है तुम्हें स्वतत्रन्ता का वरण करने की
तुम स्वतन्त्र हो।
नीली छतरी के तले कचोटने वाली है ऐसी स्वतत्रन्ता।

–नाजिम हिकमत

☐ यह भयानक असमानता और जबर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुँह पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

–भगत सिंह व दत्त का बमकाण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान, 6 जून 1929

☐ लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की जरूरत है। गरीब मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिये कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिये और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिये। संसार के सभी गरीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधि कार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताकत अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों में तुम्हारा नुकसान कुछ भी नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी जंजीरे कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

–शहीदेआजम भगत सिंह, 'साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज', जून 1928

☐ धार्मिक अन्धविश्वास और कट्टरपन हमारी प्रगति में बहुत बड़े बाधक हैं। वे हमारे रास्ते के रोड़े साबित हुए हैं और हमें उनसे हर हाल में छुट्कारा पा लेना चाहिए। ''जो चीज आजाद विचारों को बर्दाश्त नहीं कर सकती उसे समाप्त हो जाना चाहिए।'' इसी प्रकार की और भी बहुत सी कमजोरियाँ हैं जिन पर हमें विजय पानी है। हिन्दुओं का दकियानूसीपन और कट्टरपन, मुसलमानों की धर्मान्धता तथा दूसरे देशों के प्रति लगाव और आमतौर पर सभी सम्प्रदायों के लोगों का संकुचित दृष्टिकोण आदि बातों का विदेशी शत्रु हमेशा लाभ उठाता है। इस काम के लिए सभी समुदायों के क्रान्तिकारी उत्साह वाले नौजवानों की आवश्यकता है।

–नौजवान भारत सभा (लाहौर) का घोषणापत्र, अप्रैल 1928

तूफान कभी मात नहीं खाते

हवा का रुख बदलने से
बहुत उछले, बहुत कूदे
वे जिनके शामियाने डोल चुके थे
उन्होंने एलान कर दिया
अब वृक्ष शान्त हो गए हैं
अब तूफान का दम टूट गया है–
जैसे कि जानते ही न हों
एलानों का तूफानों पर
कोई असर नहीं होता
जैसे कि जानते ही न हों
वह उमस बहुत गहरी थी
जहाँ से तूफान ने जन्म लिया
जैसे कि जानते ही न हों
तूफानों की वजह
वृक्ष नहीं होते
वरन् वह घुटन होती है
धरती का मुखड़ा जो
धूल में मिलाती है
ओ भ्रमपुत्रो, सुनो
हवा ने दिशा बदली है
हवा बन्द नहीं हो सकती
जब तक कि धरती का मुखड़ा
टहक गुलजार नहीं बनता
तुम्हारे शामियाने आज गिरे
कल गिरे
तूफान कभी मात नहीं खाते।

जनता की रोटी

इन्साफ जनता की रोटी है
वह कभी काफी है, कभी नाकाफी
कभी स्वादिष्ट है तो कभी बेस्वाद
जब रोटी दुर्लभ है तब चारों ओर भूख है
जब बेस्वाद है, तब असन्तोष।

खराब इन्साफ को फेंक डालो
बगैर प्यार के जो भूना गया हो
और बिना ज्ञान के गूँदा गया हो!
भूरा, पपड़ाया, महकहीन इन्साफ
जो देर से मिले, बासी इन्साफ है!

यदि रोटी सुस्वादु, और भरपेट है
तो बाकी भोजन के बारे में माफ किया जा सकता है
कोई आदमी एक साथ तमाम चीजें नहीं छक सकता।

इन्साफ की रोटी से पोषित
ऐसा काम हासिल किया जा सकता है
जिस तरह रोटी की जरूरत रोज है
इन्साफ की जरूरत भी रोज है
बल्कि दिन में कई-कई बार भी
उसकी जरूरत है।

सुबह से रात तक, काम पर, मौज लेते हुए
काम, जो कि एक तरह का उल्लास है
दुख के दिन और सुख के दिनों में भी
लोगों को चाहिए
रोज-ब-रोज भरपूर, पौष्टिक, इन्साफ की रोटी।

इन्साफ की रोटी जब इतनी महत्वपूर्ण है
तब दोस्तो कौन उसे पकायेगा?
दूसरी रोटी कौन पकाता है?
दूसरी रोटी की तरह
इन्साफ की रोटी भी
जनता के हाथों ही पकनी चाहिए
भरपेट, पौष्टिक, रोज-ब-रोज।

–बर्तोल्त ब्रेख्त